निरीश्वरवाद

एक अध्ययन



सत्यवान प० कनल

निरीश्वरवाद

निरीश्वरवाद

हम ईश्वर के अस्तित्व को क्यों नहीं मानते ?

लेखक

सत्यवान परशुराम कनल

बी० ए० ऑनर्ज़ [लण्डन]

रीडर, दर्शन विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

देवसमाज प्रकाशन

मोगा (पंजाब)

निरीश्वरवाद

प्रथम संस्करण १९७३ ई०

मूल्य : रु० १५.००

प्रकाशक
प्रोफेसर एस०पी० कनल
ईन्चार्ज साहित्य विभाग
देव समाज
मोगा (पंजाब)

मुद्रक :
राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स
२७, शिवाश्रम, क्वींस रोड,
दिल्ली-६.

आदरणीय बाबा

(प्रधान-आचार्य परशुराम वीरुमल कनल, कर्मचारी देवसमाज)

के कर कमलों में उपहार

जिन्होंने स्कूल अवस्था में ही ईश्वर के अस्तित्व के प्रति संशय अनुभव किया और दार्शनिक अध्ययन और अपने महान गुरु भगवान देवात्मा की शरण में रहकर अपनी लेखनी और भाषण द्वारा निरीश्वरवाद का प्रचार किया।

तू अदीबे बा-अमल साहिबे इख़लाख़ है,
तू हकीमे-बाख़बर फ़लस्फ़े का राज़दाँ।

तू ने वोह नुक़ते बताए दीनो-दुनिया के मुझे,
याँ भी काम आएँ, वहाँ भी काम आएँ बेगुमाँ॥

तरज़ है दिलचस्प-ओ-मुस्तहसीन तेरी तहरीर का,
गूंजता है कान में जादू तेरी तक़रीर का॥

भूमिका

साधारण पाठक के लिए निरीश्वरवाद समझने में एक बड़ी मानसिक रुकावट यह है कि वह इस भूल में है कि निरीश्वरवाद और भौतिकवाद एक रूप हैं और क्योंकि भौतिकवाद नीति और आध्यात्मिक जीवन का घातक है इसलिए निरीश्वरवाद नीति जीवन और आध्यात्मिक जीवन का नाशक है। यदि पाठक इस भूल से ऊपर उठ सके तो उसके लिए निरीश्वरवाद का निष्पक्ष रूप से अध्ययन सहज और सफल हो सकता है।

भारत का धार्मिक और दार्शनिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि निरीश्वरवाद और भौतिकवाद एक नहीं। प्रोफेसर कालीदास भट्टाचार्य जो पहले संस्कृत कालिज कलकत्ता में भारतीय दर्शन के प्रोफेसर थे और विश्व-भारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन के उपकुलपति रहे हैं, अपनी पुस्तक 'फिलासफी, लॉजिक एण्ड लैंगुएज' (Philosophy, Logic and Language) के एक अध्याय शीर्षक: 'दी कान्सेप्ट आफ गॉड इन इण्डियन फिलासफी' (The Concept of God in Indian Philosophy) पृष्ठ २०६ पर ठीक ही लिखते हैं, "चार्वाक, बौद्ध, जैन, हाँ हिन्दू दर्शनों में भी सांख्य और मीमांसा ईश्वर के विश्वास का खुल्लम-खुल्ला खण्डन करते हैं। परन्तु तब भी इन दर्शनों के अनुयायी उच्च आध्यात्मिकता को प्राप्त हुए हैं। यह बात पश्चिमी लोगों के लिए मानना कठिन है कि निरीश्वरवाद और अध्यात्मिकता क्यों कर इकट्ठे जा सकते हैं। बुद्ध, जैन, सांख्य और मीमांसा प्रकृतिवादी या **जड़वादी न थे**। इनके धर्म का आधार यद्यपि नीतिशास्त्र था तथापि वे इतने ही आध्यात्मिक थे जितना कोई अन्य धर्म हो सकता है। **इनके मानने वालों ने आध्यात्मिक जीवन की उच्च से उच्च श्रेणी प्राप्त की।**"

इसी प्रकार निरीश्वरवाद अनीतिवाद नहीं। जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों निरीश्वर धर्म हैं। परन्तु इन धर्मों में जितना नीति जीवन पर ज़ोर दिया गया है वह अन्य किसी प्राचीन धर्म में नहीं दिया गया। इन धर्मों के उच्च अनुयायिओं ने वासनात्मक जीवन पर विजय प्राप्त की है और उच्च सात्विक जीवन की प्राप्ति की है। इन दोनों धर्मों का इतिहास इस बात की घोषणा है कि ईश्वर नैतिक जीवन का आधार नहीं। निरीश्वरवादी धर्मवाद उच्च से उच्च नीति जीवन को प्राप्त हो सकते हैं। प्रोफेसर हरिदास भट्टाचार्य जो पहले बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में भारतीय दर्शन और धर्म के प्रोफेसर थे और अब केलिफोर्निया

इन्सटीच्यूट ऑफ़ ऐशियन स्टडीज, सेन्फ्रन्सेंसको (California Institute of Asian Studies, San Francisco) के अध्यक्ष हैं अपनी एक सम्पादित पुस्तक शीर्षक "दी कल्चरल हेरिटेजऑफ इन्डिया" (The Cultural Heritage of India) खण्ड तीसरा, अध्याय शीर्षक 'हिन्दु एथिक्स' (Hindu Ethics) पृष्ठ ६२६ पर लिखते हैं, "बुद्ध धर्म और जैन धर्म का वेदों के देवी-देवताओं में विश्वास उड़ गया था परन्तु ऐसे विश्वास के उड़ने से इनके अनुयायियों में अनैतिक जीवन को प्रोत्साहन नहीं मिला। **इसके विपरीत** हम देखते हैं कि इन धर्मों में नीति स्थिति बढ़ी, त्याग बढ़े और दुनिया के साथ लगाव के लिए ज़्यादा घृणा पैदा हुई। यह विश्व के धार्मिक इतिहास की बड़ी अनुपम घटना है। क्योंकि साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि ईश्वर के विश्वास के बिना नीति जीवन स्थिर नहीं रह सकता। इन धर्मों के इतिहास से स्पष्ट है कि भारत में ईश्वर की प्रसन्नता की जगह पर नीति नियमों को नीति जीवन का आधार बनाया गया।"

बुद्ध, जैन और देवधर्म इस सत्य की ऐतिहासिक साक्षी हैं कि ईश्वर न तो आध्यात्मिक जीवन और न ही उच्च चरित्र का आधार है। ये दोनों ही ईश्वर के बिना फल-फूल सकते हैं और फले-फूले हैं।

यह पुस्तक चार विभागों में बाँटी गई है। पहला भाग निरीश्वरवाद के इतिहास की झलक देता है। इसमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार भारतीय दर्शन और धर्म मूल रूप से निरीश्वरवादी हैं। यह बात आज के पश्चिमी दर्शन के सम्बन्ध में भी सत्य है। निरीश्वरवाद का इतिहास बड़ा विशाल और गर्वपूर्ण है।

दूसरे भाग में ईश्वर के सम्बन्ध में जो युक्तियाँ दी गई हैं उसका तार्किक और ताथ्यिक खण्डन किया गया है। भारतीय दर्शन में ईश्वर उस प्रकार विचार का मूल केन्द्र नहीं रहा जिस प्रकार यह पश्चिमी दर्शन में रहा है। भारतीय धर्म और दर्शन आत्म-केन्द्रित हैं। इसलिये जहां अधिकांश भारतीय दर्शन और धर्म ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं या उसका निरादर करते हैं, वहां चारवाक को छोड़कर कोई भारतीय धर्म या दर्शन आत्मा होने या न होने के बारे में कोई वाद-विवाद नहीं करता। इसके विपरीत पश्चिमी दर्शन ईसा धर्म के बाद ईश्वर केन्द्रित रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिमी दर्शन ईसाई धर्म के विश्वासों के गिर्द बहुत घूमता रहा। इसलिए ईश्वर पर वाद-विवाद जितना पश्चिमी दर्शन में पाया जाता है वह भारतीय दर्शन में अनुपस्थित है। पश्चिमी दर्शन ने ईश्वर सम्बन्धी युक्तियों को साधारण और सूक्ष्म स्तर पर प्रस्तुत किया है। इसलिए इनके खण्डन ने पुस्तक की बहुत-सी जगह ले ली है।

इस पुस्तक का तीसरा भाग निरीश्वरवाद का भावात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। ईश्वर सम्बन्धी युक्तियों का दोष प्रस्तुत करने से केवल यह परिणाम निकाला

जा सकता है कि ईश्वर में विश्वास का कोई सन्तोषजनक आधार नहीं। परन्तु यह विश्वास को मिथ्या प्रमाणित नहीं करता। इसलिए तीसरे भाग में यह दिखाया गया है कि विज्ञान ने विश्व के जो लक्षण खोजे हैं वे ईश्वर विश्वास के लिए कोई जगह नहीं छोड़ते।

इस पुस्तक के चौथे भाग में यह बताया गया है कि ईश्वर विश्वास का कैसे जन्म हुआ और यह विश्वास तर्क और तथ्यों के विरुद्ध होने पर भी मनुष्य समाज में क्यों कर जमा हुआ है। किसी विश्वास का मनोवैज्ञानिक वर्णन उसे असत्य सिद्ध नहीं करता परन्तु यदि यह दिखाया जा सके कि कोई अमुक विश्वास तर्क और तथ्यों की दृष्टि से खंडन योग है तो विश्वास आत्मनिष्ट ही रह जाता है।

यह पुस्तक बहुत सहयोगियों के परिश्रम का फल है। पहले तो मैं निरीश्वर-वाद के उन महाप्रचारकों का आभारी हूँ जिनके विशाल साहित्य का मैंने थोड़ा बहुत अध्ययन किया है। इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर इन विचारकों की छाप है। यदि कोई बात नवीन है तो वे मेरी अशुद्धियाँ हैं। मैं इन महाविचारकों का ऋण इस रूप में ही चुका सकता था कि इनके विचारों को भ्रांतिरहित और स्पष्ट-रूप से प्रस्तुत करूँ। यह जानकारी पाठक ही बता सकते हैं कि मैं इस भाव में कहां तक सफल हुआ हूं।

मेरी साहित्यिक रचनाएं मेरी धर्मपत्नि श्रीमती प्रेम लता द्वारा ही संभव हुई हैं। इनकी सेवाओं के बिना शायद मेरी कोई रचना छप न पाती। यदि वह मेरी रचनाओं को अपनी सेवाओं की थोड़ी-बहुत देन मान लें तो मैं अपना बड़ा सौभाग्य समझूंगा।

मेरे साथी प्राध्यापक डा० आर. एस. भट्ट ने इस पुस्तक के बहुत से अंशों को हस्तलेख रूप में पढ़ कर संशोधन किया है और प्रूफ भी पढ़े हैं। उन्होंने यह सहा-यता प्रसन्नतापूर्वक की है। जिसके लिये मैं कृतज्ञ हूँ।

इस पूस्तक का श्रुतलेख मूल रूप से मिस ऊषा दुआ (अब श्रीमती उषा सलूजा) ने किया है। इस कार्य के लिए उन्हें बहुत दूर से आना पड़ता था परन्तु वह छुट्टी के दिन आकर सारा-सारा दिन डिक्टेशन लेती थीं। अब वह विवाहिता और बच्चे की माँ हैं। मैं कृतज्ञता से उन्हें आशीर्वाद देता रहता हूँ कि वह सदा सौभाग्यवती रहें और घर और वर के साथ सदा प्रसन्न रहें।

इस पुस्तक की प्रेस कापी तैयार करने के लिए मुझे सौभाग्य से राज मैन्दी-रत्ता की सहायता प्राप्त हुई। उन्होंने रात-दिन एक करके मेरे साथ काम किया है। मेरे साथ काम करना कितना कठिन है वह उनको ही पता है जो मेरे साथ काम करते हैं, क्योंकि मैं अपनी रचनाओं का सुधार और पुनर्सुधार बहुत करता रहता हूँ।

इस पुस्तक की अनुक्रमणिका तैयार करने के अरोचक काम को प्यारी बेटी अंजुबाला, एम. ए. ने बहुत परिश्रम से किया है। इन बेटियों को जितना सुख मिले उतना ही कम है।

इस पुस्तक के छपवाने का सारा कार्य श्रीमान खैराती लाल वौहरा एम० ए० ने किया है। उन्होंने मेरी साहित्यक रचनाओं के साथ अपने आपको इतना एक किया हुआ है कि उन्हें धन्यवाद देना अपने आपको धन्यवाद देना है। अन्त में मैं श्री श्याम कुमार गर्ग, मालिक, राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने प्रूफ़ों में बहुत परिवर्तन करने पर भी उदारता दिखाई है।

पाठक पूछ सकता है कि जब यह पुस्तक इतने सहयोगियों के यत्न का फल है तो मैं अपने आपको सबसे अलग करके लेखक के महत्वपूर्ण पद को क्यों ग्रहण करता हूँ। कारण यह है कि इस पुस्तक की अशुद्धियों के लिए चाहे वे विचार सम्बन्धी हों अथवा भाषा सम्बन्धी, मेरे सिवाय और कोई उत्तरदायी नहीं।

—सत्यवान परशुराम कनल

विषय सूची

: १ :

निरीश्वरवाद के सम्बन्ध में लोकविश्वास

इस पुस्तक का उपशीर्षक, 'हम ईश्वर को क्यों नहीं मानते ?' हमारे अध्ययन के विषय को प्रश्न के रूप में प्रस्तुत करता है। किसी प्रश्न का ठीक उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि उसे ठीक तरह से समझा जावे। हमारे प्रश्न में चार शब्द हैं जिनका समझना आवश्यक है, अर्थात्, 'हम', 'ईश्वर,' 'क्यों' और 'नहीं मानते'। हमारा प्रश्न इस प्रकार चार प्रश्नों में बंट जाता है जो निम्नलिखित हैं—

क—'हम' कौन हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते ?

ख—'ईश्वर' की क्या परिभाषा है जिसके सम्बन्ध में हम यह कहते हैं कि हम ऐसे अस्तित्व को नहीं मानते ?

ग—जब हम कहते हैं कि हम ईश्वर को नहीं मानते, तो 'न मानने' का क्या अर्थ है ?

घ—जब हम कहते हैं कि हम ईश्वर के अस्तित्व को क्यों नहीं मानते, तो 'क्यों' का क्या अर्थ है ?

'हम' कौन हैं जो ईश्वर को नहीं मानते ? स्वाभाविक ही हम देव धर्मी हैं जो ईश्वर को नहीं मानते। आप कह सकते हैं कि आप लोगों की संख्या इतनी कम है कि आप की राय को कोई वज़न नहीं दिया जा सकता।

परन्तु तर्क की दृष्टि से आप ग़लती पर हैं। किसी भी विश्वास की सच्चाई की कसौटी गिनती नहीं। उदाहरणार्थ जब कोपरनिकस (Copernicus) ने कहा कि ज़मीन सूर्य के गिर्द घूमती है तो वह लगभग अकेले ही थे जो उस वक्त यह विश्वास रखते थे और अरबों लोग इसके विरुद्ध विश्वास रखते थे। हम यह नहीं कह सकते कि इस

लिए उनका यह विश्वास असत्य था। आज विश्व की सब शिक्षा संस्थाओं में यह पढ़ाया जाता है कि ज़मीन सूर्य के गिर्द घूमती है। इस लिए आज करोड़ों, हां अरबों की तादाद में, शिक्षित लोग कोपरनिकस के विश्वास को सत्य मानते हैं। यह विश्वास आज इसलिए सत्य नहीं क्योंकि लगभग सब शिक्षित लोग यह विश्वास रखते हैं। यदि गिनती सच्चाई की कसौटी हो तो एक ही विश्वास सत्य और असत्य हो जाता है। परन्तु कोई भी विश्वास दोनों सत्य और असत्य नहीं हो सकता। यह सत्य नहीं हो सकता कि ज़मीन सूर्य के गिर्द घूमती हो और नहीं भी घूमती हो क्योंकि यह नहीं हो सकता कि ज़मीन सूर्य के गिर्द घूमती है और नहीं भी घूमती। किसी भी विश्वास की सच्चाई की कसौटी तर्क और घटनाएं हैं। यदि ज़मीन सूर्य के गिर्द घूमती है तो यह विश्वास "कि ज़मीन सूर्य के गिर्द घूमती है" सत्य है, चाहे यह विश्वास केवल एक व्यक्ति का क्यों न हो। स्पष्ट है कि आप का ऐसा सोचना मिथ्या है कि देव धर्म का ईश्वर को न मानना सत्य की दृष्टि से कोई वज़न नहीं रखता क्योंकि इनकी गिनती कम है।

आप तर्क की दृष्टि से ही गलत नहीं कि हमारे विश्वास को वज़न नहीं दिया जा सकता परन्तु तथ्यों की दृष्टि से भी भ्रांति में हैं। हम जो ईश्वर को नहीं मानते, वह केवल देव धर्मी नहीं। मनुष्य-मात्र में हमारा परिवार बड़ा विशाल है। बुद्ध धर्म एक विश्व धर्म है। इस धर्म के अनुयायी किसी सृष्टा को नहीं मानते।[१] इनकी गिनती तेंतालीस करोड़ सतासठ लाख पैंतालीस हज़ार (436745000) है। जैन धर्मी भी ईश्वर को नहीं मानते। इनकी गिनती बीस लाख सत्ताईस हज़ार और दो सौ इकासी (2027281) है। अब चीन और जापान

---

१. प्रोफ़ैसर जे. एन. सिन्हा (Prof. J.N. Sinha) अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इण्डियन फ़िलौसफ़ी खण्ड दो, छापा १९५२ (*History of Indian Philosophy* Part 2, Ed. 3rd, 1952.) के पृष्ठ ३४२ पर लिखते हैं, "बुद्ध धर्म जैन धर्म की न्याई ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता।" प्रो: सिन्हा ने अपनी उपरोक्त पुस्तक के २६६-७३ और ३०४-०७ पृष्ठों पर जैन धर्म और बुद्ध धर्म की ओर से दी हुई ईश्वर विश्वास के विरुद्ध दलीलें प्रस्तुत की हैं।

के धर्मों को लीजिए। इन देशों के तीन मुख्य धर्म हैं, अर्थात् कन्फ्यूशियस धर्म (Confucianism), ताओ धर्म (Taoism) और शिंटो धर्म (Shintoism)। यह तीनों ही धर्म सृष्टा को नहीं मानते।[२] इन तीनों धर्मों के अनुयायियों की संख्या इस प्रकार है। कनफ्यूशियस धर्म के अनुयायियों की संख्या सैंतीस करोड़, पन्द्रह लाख, सत्तासी हज़ार (371587000) है। ताओ धर्म के अनुयायी पांच करोड़, तेंतालीस लाख, चौबीस हज़ार (54324000) हैं। शिंटो धर्म के अनुयायी छः करोड़, छ्यानवे लाख और बासठ हज़ार हैं। इस प्रकार तीनों धर्मों की संख्या उन्नचास करोड़, पचपन लाख और तेहत्तर हज़ार (495573000) है।[३] आजकल माओ रूप का मार्क्सवाद चीनी बच्चों को घुट्टी में पिलाया जाता है। निरीश्वरवाद की दृष्टि से यह मार्क्सवाद परम्परागत धर्मों पर सोने पर सुहागा है। चीनी जनसंख्या विश्व की चौथाई है। इसकी जनसंख्या लगभग चौहत्तर करोड़ है।

अगर अब भी आपको गिनती की दृष्टि से तसल्ली नहीं हुई तो आगे चलिए। मार्क्सवाद को लीजिए। यह रूस का राज्य धर्म (State Religion) है। मार्क्सवाद केवल राज्यनीतिवाद ही नहीं। उसने धर्म का रूप भी लिया है। इसके अनुयायी मार्क्स की पुस्तक 'दास केपिटल' (Das Capital) के सिद्धान्त को उसी प्रकार अधिकारिक

---

२. प्रोफेसर आरची० जे० बाहम (Archie J. Bahm) अपनी पुस्तक 'दी वर्ल्डस लिविंग रिलिज्यिनस' (*The World's Living Religions*) के १५१ सफ़े पर लिखते हैं, "जहाँ हिन्दू धर्म आध्यात्मिक है और यूरोप के लोगों का धर्म ईश्वर केन्द्रित है **वहां चीन के लोगों का धर्म प्रकृति या नेचर केन्द्रित है।** पश्चिमी धर्म ने ईश्वर को नेचर से भिन्न और पृथक माना है। इसके फल स्वरूप उसने यह विश्वास रचा है कि मनुष्य के जीवन का आधार और उद्देश्य नेचर से बाहर है। पश्चिमी धर्म मनुष्य से यह मांग करता है कि यह अपने प्राकृतिक जीवन को रद्द करे, उसे पूर्णरूप से पतित माने और उसके प्रति दुख अनुभव करे और अपनी इच्छा पर ईश्वर की इच्छा को जगह दे। **चीन के धर्म ऐसे सब विचारों को अस्वीकृत या त्याग करते हैं।**"

३. दि वर्ड एलमैनेक (The World Almanac 1971)। जैनियों की संख्या दी स्टेटसमैन इयर बुक 1970-71 पृष्ठ ३३४।

मानते हैं जिस प्रकार मुसलमान लोग 'कुरान' को, ईसाई लोग 'बाई-बल' को और कुछ हिन्दू 'वेदों' को, अधिकारयुक्त मानते हैं। यह लोग अपने सिद्धान्त की पूर्ति के लिए उसी प्रकार त्याग करने के लिए तैयार रहते हैं जिस प्रकार एक समय ईसाई और मुसलमान अपने विश्वासों की विजय के लिए सब प्रकार का त्याग करते थे और आपस में रक्त रंजित धर्म युद्ध (Crusade) भी करते थे। मार्क्सवादी अन्य धर्मों के अनुयायियों की न्याईं अपने धर्म के विश्वास में बहुत क़ट्टर हैं। रूस ने जब मार्क्सवाद अपनाया तो उसने ईश्वरीय धर्मों का बहिष्कार किया। गिरजों और मस्जिदों में सामाजिक पूजा बन्द कर दी। इसके स्थान पर मार्क्सवाद की शिक्षा सब स्कूलों और कालेजों में अनिवार्य कर दी।[४] मार्क्सवाद पूर्णरूप से निरीश्वरवाद है। वह ईश्वर विश्वास को मनुष्य के साथ धोखा समझता है। मार्क्सवादी रूस के लोगों की गिनती चौबीस करोड़ सत्तरह लाख अड़तालीस हज़ार (241748000) है[५]। परन्तु रूस ही केवल मार्क्सवादी देश नहीं, यूरोप के कई और देश भी मार्क्सवादी हैं। मैं और गिनती में नहीं जाना चाहता क्योंकि ऐसा न हो कि आप और मैं इस गिनती में उलझ जावें। स्पष्ट है कि गिनती की मिथ्या दृष्टि से भी अब आप यह नहीं कह सकते कि निरीश्वरवाद में वज़न नहीं। यह हिमालय पर्वत की न्याईं वज़नी है।

---

४. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (*Encyclopaedia Britannica*), छापा १९५५, पृष्ठ २३१।

५. दि वर्ड एलमैनेक १९७१ (*The World Almanac* 1971) पृष्ठ ५६१।

: २ :

प्राचीन भारतीय दर्शन में निरीश्वरवाद

निरीश्वरवाद गिनती की दृष्टि से ही वज़नी नहीं, गुणों की दृष्टि से भी वज़नी है। धर्म के विचारक दार्शनिक हैं। धर्मों के विश्वासों की तार्किक पुष्टि या खण्डन दार्शनिक करते हैं। दार्शनिक विचार के गुण से उच्चतम समझे जाते हैं। इसलिए उनकी राय तर्क की दृष्टि से बहुत वज़न रखती है। अब देखना यह है कि दार्शनिक ईश्वर विश्वास के सम्बन्ध में क्या राय रखते हैं।

पहले अपने देश के ही दर्शन लीजिए। यह दर्शन दो भागों में बांटे जाते हैं—आस्तिक और नास्तिक। नास्तिक दर्शन वह हैं जो केवल यही नहीं कि वेदों को अधिकार पूर्ण नहीं मानते परन्तु उनका खण्डन भी करते हैं। चार्वाक, बुद्ध और जैन तीन नास्तिक दर्शन हैं। ये तीनों दर्शन केवल यही नहीं कि वेदों को नहीं मानते परन्तु ईश्वर के विश्वास का भी खण्डन करते हैं। **चार्वाक दर्शन** का कहना है कि जिस विश्वास के विषय का साक्षात् प्रत्यक्ष इन्द्रीय अनुभव न हो सके और न उसे प्राक्कलपना मानकर उस प्राक्कलपना से प्राप्त अनुमान का साक्षात् इन्द्रिय अनुभव ही हो सके वह मिथ्या विश्वास है। ईश्वर का न तो प्रत्यक्ष इन्द्रिय अनुभव ही हो सकता है और न ही उसे प्राक्कलपना मानकर उससे अनुमान निकाला जा सकता है जो कि इन्द्रिय सत्यापनीय हो सके। इसीलिए ईश्वर में विश्वास मिथ्या है।[१]

---

१. एस० एन० दास गुप्ता 'ए हिस्ट्री आफ़ इण्डियन फ़िलौसफ़ी (Das Gupta S.N : *A History of Indian Philosophy*) III, पृ० ५८६ तथा देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय 'इण्डियन फ़िलौसफ़ी (Chattopadyaya D.P. : *Indian Philosophy*) पृष्ठ १८९-९०।

बुद्ध दर्शन ने ईश्वर और ब्रह्म के विश्वास के विरुद्ध कई दलीलें दीं। महात्मा बुद्ध की एक दलील यह थी कि सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ और सर्वश्रेष्ठ ईश्वर नहीं हो सकता क्योंकि फिर अच्छे और बुरे में भेद नहीं रहेगा। ईश्वर शक्तिमान है अर्थात ईश्वर से बाहर और कोई शक्ति नहीं, वह ही सब शक्ति है और इसके फलस्वरूप व्यक्तियों के सब कर्म ईश्वर की शक्ति द्वारा ही होते हैं। जब ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है तो उसकी शक्ति द्वारा प्रचलित व्यक्तियों के सब कर्म श्रेष्ठ हैं। परन्तु अच्छे और बुरे कर्मों का भेद मूल भेद है। विश्व में दुःख के रूप में बुराई की महामारी है इसलिए सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ ईश्वर नामी कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।[२] **जैन दर्शन** का साहित्य ईश्वर विश्वास के खण्डन से भरा हुआ है। जैन विचारकों का कहना

---

२. (क) महात्मा बुद्ध की ईश्वर और ब्रह्म के विरुद्ध युक्तियों के लिए डाक्टर राधाकृष्णन् (Dr. Radhakrishnan) की पुस्तक 'इण्डियन फ़िलौसफ़ी', खण्ड पहला, (*Indian Philosophy* Volume I, pp. 456-58) सफ़ा ४५६-५८ देखिए जिसमें उन्होंने बुद्ध ग्रन्थों से दलीलें उद्धृत की हैं। (ख) इसी प्रकार 'सर्व सिद्धान्त सार संग्रह' में एक बुद्ध विचारक यशोमित्र की ईश्वर के विरुद्ध दलीलें दी गई हैं। (ग) इसके अतिरिक्त शांतिदेव की बोधिचर्यावतार वार्ता में बुद्ध धर्म की ईश्वर के विरुद्ध दलीलें दी गई हैं। (घ) बुद्ध दर्शन के अति महान दार्शनिक नागार्जुन ने एक छोटी पुस्तक ईश्वर विश्वास के खण्डन में लिखी है—जिसका शीर्षक है 'ईश्वर कर्तृत्व-निराकरण-विष्णोः एककर्तृत्व-निराकरण'। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद रूस के महान भारतीय विद्याविद की पुस्तक 'पेपर्स आफ थ्योडोर स्च्चेरवाट्सकी।' (*Papers of Theodore Stcherbatsky* translated by Harish C. Gupta, published by Indian Studies) में पृष्ठ १०-१२ पर किया गया है। (ङ) धर्मकीर्ति—प्रमाण वार्तिक, ११-२८।

प्रोफेसर यदुनाथ सिन्हा ने निम्नलिखित पुस्तकों में बुद्ध धर्म के निरीश्वरवाद के विवरण दिए हैं—(च) धीगानिकाय, पथिकसूत्र iii, i (छ) राहुल सांस्कृत्यायन दर्शन दिग्दर्शन पृष्ठ ५२०-२६ (ज) मज्झिम निकाय ब्रह्मणिमन्तिक सूत्र १०५, ६, (झ) केट्ट सूत्र—११ (त) संयुक्त निकाय २० (थ) पं० लक्ष्मीनाथ : दी एस्सैंस आफ बुद्धइज़्म छापा १६०८ पृष्ठ संख्या १८८-८६।

है कि विश्व का कोई सृष्टा नहीं हो सकता क्योंकि विश्व का आरम्भ ही नहीं हुआ। जैन विचारक ईश्वरवादियों से पूछते हैं कि आपके विश्वास का क्या आधार है कि कोई ऐसा समय था जब कि विश्व न था। तर्क की दृष्टि से यह किसी का अनुभव नहीं हो सकता कि एक ऐसा समय था जब विश्व न था। ऐसे अनुभव के लिए वक्ता का होना आवश्यक है। कोई नहीं कह सकता कि कोई समय था जब ईश्वर के सिवाय कुछ नहीं था। ईश्वरवादी कह सकते हैं कि यह ठीक है कि यह किसी का अनुभव नहीं हो सकता और इसलिए इस बात की कोई साक्षी नहीं हो सकती कि एक समय विश्व नहीं था। परन्तु यह हमारा अनुभव है कि हर एक चीज़ का कोई बनाने वाला है। विश्व है इस-लिए इस को बनानेवाला अवश्य होगा। जैन विचारक पूछते हैं कि यह आपने कैसे कह दिया कि हर एक चीज़ बनाई जाती है। हमारा दैनिक अनुभव तो यह है कि कुछ चीजें, जैसे घड़ा, तो बनाया जाता है परन्तु कुछ ऐसी चीज़े हैं जो बनाई नहीं जातीं। जंगल के वृक्ष, घड़ों की तरह से बनाए नहीं जाते। वह मेज और कुर्सी की तरह से घड़े नहीं जाते। यह पूर्णतया सम्भव है कि विश्व अपना विकास आप करता है जैसे वृक्ष का विकास होता है। ईश्वरविश्वासी कहते हैं कि ईश्वर अदृष्ट रूप से पौधों का निर्माण करता है। जैन विचारक उत्तर में कहते हैं कि पहले आप अपने ईश्वर को साबित करें और फिर आप कह सकते हैं कि ईश्वर इन पौधों में अदृष्ट रूप से काम कर रहा है। अन्यथा आपकी युक्ति में चक्रप्रकथन दोष पैदा हो जाता है। आप जंगल के वृक्षों के आधार पर ईश्वर को सिद्ध करते हैं और वृक्षों के अस्तित्व को ईश्वर द्वारा सिद्ध करते हैं। आप कहते हैं कि वृक्ष हैं इसलिए ईश्वर है, फिर कहते हैं कि ईश्वर है इसलिए वृक्ष हैं। जब तक किसी और आधार पर ईश्वर का सृष्टा होना सिद्ध न किया जा सके तब तक हम यह नहीं कह सकते कि जंगल के वृक्षों की उत्पत्ति ईश्वर की अदृष्ट शक्ति के कारण है। वास्तव में साक्षात् प्रत्यक्ष यह बताता है कि सब अस्तित्व बनाए नहीं जाते। अनगिनत और अधिकांश अस्तित्व जैसे पशुओं-पक्षियों और पौधों की उत्पत्ति की नहीं जाती है। केवल शिल्पी वस्तुएं ही बनाई जाती हैं। जब यह सच है कि सब वस्तुएं बनाई नहीं

जातीं तो हम विश्व के होने से यह अनुमान नहीं लगा सकते कि विश्व का सृष्टा ईश्वर है।[३]

अब आस्तिक दर्शनों को लीजिए। यह छः दर्शन हैं अर्थात न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, पूर्व मीमांसा दर्शन, और वेदान्त दर्शन। यह छः दर्शन वेदों को अधिकार आयुक्त मानते हैं। तब भी इनमें से अधिकांश दर्शन आदि रूप में नास्तिक हैं। हम पहले **न्याय और वैशेषिक दर्शनों** को लेते हैं। न्याय दर्शन के रचयिता गौतम हैं और वैशेषिक दर्शन के रचयिता कणाद हैं। हम इन दोनों दर्शनों को इकट्ठा इसलिए लेते हैं क्योंकि इनकी तत्व मीमांसा या विश्व तत्व सम्बन्धी विचार एक हैं। केवल अन्तर यह है कि जहां न्याय दर्शन तर्क के विषय का अध्ययन और खोज करता है वहां वैशेषिक दर्शन विश्व तत्व की खोज करता है। वैशेषिक दर्शन को लीजिए। इसके सूत्रों में ईश्वर का निर्देश या ज़िक्र तक नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि इस दर्शन को विश्व के वर्णन के लिए ईश्वर की अवधारणा की ज़रूरत नहीं पड़ी और इसलिए यह नास्तिक दर्शन है। इस दर्शन में एक सूत्र अर्थात् 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'(१-१-३) की व्याख्या करते हुए कुछ विद्वान इस दर्शन में ईश्वर

---

३. जैन धर्म के विचारकों की ईश्वर विश्वास के विरुद्ध युक्तियां निम्नलिखित ग्रन्थों में मिलती हैं।

(i) हरिभद्र सूरि का षड्दर्शन समुच्चय, गुणरतन कृत तर्क रहस्य दीपिका (हिन्दी संस्करण-भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) अध्याय चतुर्थ, पृष्ठ १६६-२१०।

(ii) स्याद्वाद मंजरी (हरिभद्रसूरि रचित अन्ययोग द्वात्रिंशंका पर मल्लीनाथ की टीका।

(iii) प्रो० आनन्दशंकर ध्रुवकृत स्याद्वाद मंजरी का अंग्रेज़ी संस्करण भूमिका, पृष्ठ ८६-९२ (lxxxvi—xcii), दृष्टव्य, मूल पृष्ठ २१-३१, एफ-डब्ल्यू टामस कृत अंग्रेज़ी अनुवाद (मोतीलाल बनारसीदास, देहली) पृष्ठ २१-३६।

(iv) सम्मतितर्क, पृष्ठ ६९-१०६।

(v) प्रमेय कमल मार्तंड ७३-८०।

(vi) सर्व दर्शन संग्रह, माधवाचार्य रचित—अध्याय तीसरा।

(vii) एस० एन० दास गुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, खण्ड १, पृ० २०३-६।

को लाने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं। ये विद्वान 'तद्' का ईश्वर में अनुवाद करते हैं। ऐसा अनुवाद मिथ्या है क्योंकि ऐसा अनुवाद इस दर्शन की आत्मा के विरुद्ध है। ठीक ही है कि और विचारक इन विद्वानों के अनुवाद को नहीं मानते। न्याय कण्दली के रचयिता श्री धर (जो खुद ईश्वर वादी हैं) का कहना है कि 'तद्वचनात्' का अर्थ ईश्वर नहीं। इसका अर्थ ऋषि है। इसी प्रकार कुछ और आलोचक 'तद्' को धर्म के अर्थ में लेते हैं। स्पष्ट है कि अकेले इस बहु अर्थ सूत्र के आधार पर वैशेषिक दर्शन को ईश्वरवादी दर्शन नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि वैशेषिक तत्व मीमांसा या विश्व तत्व में ईश्वर की न तो आवश्यकता है और न ही कोई स्थान है। वास्तव में ईश्वर का विश्वास सारे वैशेषिक दर्शन से एकदम असंगत है।

इसी प्रकार न्याय सूत्रों में ईश्वर का वर्णन नहीं है। ले दे कर सिर्फ एक सूत्र में कुछ थोड़ा-सा उल्लेख मिलता है। लेकिन इसके बारे में न्याय-विद्वानों की भी एक राय नहीं। न्याय दर्शन के अति प्रसिद्ध भाष्यकार वाचस्पति मिश्र, उदयन, वर्धमान तीनों की राय में यह सूत्र न्याय के रचयिता गौतम के ईश्वर में विश्वास को प्रकट नहीं करता परन्तु वेदान्त के ब्रह्म कारण वाद का खण्डन है। इन भाषकों का यह मत ठीक है क्योंकि यह इस दर्शन की तत्व मीमांसा पर ठीक उतरता है। न्याय वैशेषिक दोनों ही विश्व को अनादि मानते है। यह दोनों ही परमाणु और आत्मा और इनकी गतियों के नियम अर्थात अदृष्ट के नियम को अनादि मानते हैं। यह अदृष्ट का नियम वस्तुओं की क्रियाओं और मनुष्य के कर्मों के फल का कारण है। इसलिए इन दोनों दर्शनों को ईश्वर की ज़रूरत नहीं। सिद्धान्त की दृष्टि से इन भाषकों का यह अर्थ वर्णन ठीक है कि वैशेषिक और न्याय का कोई भी सूत्र ईश्वर विश्वास के लिए जगह नहीं रखता। इन भाषकों की राय की अन्य यूरोपियन और भारतीय आलोचक भी पुष्टि करते हैं। गार्बे (Garbe) अपनी पुस्तक 'फ़िलौसफी आफ एन्शन्ट इण्डिया' (Philosophy of Ancient India) में लिखते हैं कि न्याय और वैशेषिक के आदि सूत्र ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते। शंकराचार्य अपने ब्रह्म सूत्र की टीका में लिखते हैं कि वैशेषिक दर्शन का मूल झुकाव निरीश्वरवाद की ओर

था।[४]

न्याय और वैशेषिक के कुछ बाद के भाष्यकारों ने जैसे प्रशस्तपाद उदयन और श्रीधर ने ईश्वर के विचार को अपनाया है। परन्तु उन्होंने ईश्वर की परिभाषा को बहुत सीमित कर दिया है। ये ईश्वर को सृष्टा नहीं मानते। इनके अनुसार परमाणु, आत्मा और अदृष्ट का नियम अनादि हैं। इसके अतिरिक्त वे अदृष्ट के नियम को विश्व के निर्माण और नाश का कारण मानते हैं और इस कार्य-कारण की विधि को ईश्वर से स्वतन्त्र मानते हैं। ईश्वर भी इस नियम का उल्लघन नहीं कर सकता। निमित्त कारण के रूप में भी ईश्वर का कार्य सीमित है। उसे अचेतन अदृष्ट नियम को फल देने में सहायक होना है, उसी प्रकार जैसे कोई जन, गूंगे की बात समझकर दूसरों तक पहुंचाये।

एक और बात स्मरण योग्य है कि न्याय वैशेषिक भाष्यकारों ने ईश्वर को अपने तत्व मीमांसा में कोई जगह नहीं दी, केवल उसका संसार रचना मीमांसा (cosmology) में प्रयोग किया है और वह भी बहुत सीमित रूप में। इतने सीमित निमित्त कारण को ईश्वरवादियोंकी दृष्टि से ईश्वर क्योंकर कहा जा सकता है? सीमित ईश्वर विचार विरोध है।

दूसरे दो सिद्धान्त जो इकट्ठे गिने जाते हैं, वे **सांख्य और योग दर्शन** हैं। जैसे पहले दोनों सिद्धान्त न्याय और वैशेषिक की तत्त्व मीमांसा एक ही है वैसे ही सांख्य और योग की तत्त्व मीमांसा भी एक है। वैशेषिक की न्याई सांख्य दर्शन भी ईश्वर को विश्व के वर्णन में कोई जगह नहीं देता। सांख्य-कारिका में निश्चयात्मक रूप से कहा गया कि ईश्वर का अस्तितव सिद्ध नहीं हो सकता और सांख्य प्रवचन सूत्र के पांचवें अध्याय में ईश्वर के न होने को प्रमाणित किया गया है। इसकी एक युक्ति यह है। कार्यकारण का ज्ञान अनुभव से होता है। हम देखते हैं कि पानी आग पर रखने से गरम होता है। और यह हमारा कई बार का अनुभव है। फिर यदि हम चाय के पानी को गरम पाएं तो हम अनुमान निकाल सकते हैं कि आग ने पानी को गरम किया होगा। पानी और आग जब कार्य कारण के सूत्र

---

४. ब्रह्म सूत्र, अध्याय दो, पाठ दो, सूत्र १८,३७।

में बंध जावें तो फिर हम यह अनुमान निकाल सकते हैं कि पानी के गरम होने का कारण आग है। जहां हमने घटनाओं को कार्य कारण में बंधा अनुभव नहीं किया वहां हम यह नहीं कह सकते कि किसी घटना का कारण क्या है। आज भी हज़ारों प्रयोगशालाओं में कैन्सर के रोग की खोज हो रही है परन्तु अब तक कोई सफ़लता नहीं मिली। केवल तर्क के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि कैन्सर का कारण क्या होगा या किसी घटना का कारण क्या होगा। अनुभव के बिना किसी भी घटना का कारण नहीं जाना जा सकता, हां अनुमान तक नहीं लगाया जा सकता। यदि कैन्सर के बारे में हम अनुमान लगाते हैं तो इसलिए कि हमें और रोगों के कारण का ज्ञान है। ऐसा अनुमान भी कारण को साबित नहीं करता, जब तक कार्यकारण का साक्षात् अनुभव न हो। सांख्य विचारक कहते हैं कि हम में से किसी ने ईश्वर को विश्व की बार-बार रचना करते नहीं देखा जिससे विश्व और ईश्वर में कार्य कारण सम्बन्ध माना जावे। यदि ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो तो हम कह सकते हैं कि क्योंकि विश्व है इसलिए इसका कारण ईश्वर है। ऐसे कार्यकारण के अनुभव के बिना विश्व के होने पर हम केवल तर्क के आधार पर यह नतीजा नहीं निकाल सकते कि इस विश्व का रचयिता ईश्वर है।[५]

योग दर्शन की मीमांसा या विश्व तत्व वही है जो सांख्य का है। सांख्य का दर्शन यह है कि पुरुष और प्रकृति अनादि हैं। प्रकृति कार्य शील है और कार्य कारण नियम के अनुसार काम करती है। पुरुष केवल निर्देशन करता है। स्पष्ट है कि इन दोनों दर्शनों को विश्व और विश्व की घटनाओं और कर्म के फलों के वर्णन के लिए ईश्वर की ज़रूरत नहीं। इसी कारण योग के सम्बन्ध में डाक्टर राधाकृष्ण लिखते हैं कि योग दर्शन ने केवल लोकप्रियता के लिए अपने दर्शन में ईश्वर को जगह दी, अन्यथा उसमें कोई जगह न थी।[६]

---

५. सांख्य परिचय १०, १२ तथा सांख्य तत्व कौमुदी ५७, सांख्य सूत्र वृत्ति १.९२

६. डाक्टर राधाकृष्णन् (Dr. Radharishnan) इण्डियन फिलौसफी खण्ड दूसरा १९५६, सफ़ा ३७१ (Indian Philosophy, vol. II, 1956 reprint, p. 371

डाक्टर आर० गार्बे (Dr. R. Garbe) डाक्टर राधाकृष्णन् की राय से सहमत हैं। वह लिखते हैं "वास्तव में ईश्वर का योग दर्शन को गठन में कोई आंगिक स्थान नहीं। वह बिना कारण इस दर्शन में लाया गया है। योग सूत्रों में ईश्वर के सम्बन्ध में सूत्र बाकी सूत्रों से अलग-अलग पाए जाते हैं। वास्तव में यह ईश्वर सम्बन्धी सूत्र योग दर्शन के विचारों और उद्देश्यों के विपरीत है। इस दर्शन में ईश्वर न तो सृष्टि का रचयिता है और न ही सृष्टि का चालक है और न ही कर्मों का फल देने वाला है। योग दर्शन के अनुसार न ही ईश्वर मोक्ष का विषय है। ईश्वर को केवल विशेष पुरुष कहा गया है। वह अन्य मनुष्य आत्माओं या पुरुषों से भिन्न नहीं क्योंकि यह अन्य मनुष्य आत्माओं की न्याईं अनादि है। स्पष्ट है कि योग दर्शन में ईश्वरवादियों के अर्थ में कोई ईश्वर नहीं माना गया।"[७] वास्तव में योग शास्त्र में ईश्वर को केवल मन की एकाग्रता के लिए विषय मात्र माना है। इसकी उनके तात्विक दर्शन में कोई जगह नहीं। इस बात की पुष्टि यह है कि यह सिद्धान्त मोक्ष अवस्था को ईश्वर के समान होने, या ईश्वर में लय होने या ईश्वर की उपलब्धि करने को नहीं मानता जैसा वेदान्त दर्शन के विभिन्न मत मानते हैं। यदि ईश्वर योग शास्त्र में प्रधान स्थान रखता तो मोक्ष अवस्था की परिभाषा का आवश्यक अंग होता।

यद्यपि छहों दर्शन वेदों को आधिकारिक मानते हैं परन्तु **पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा** (वेदान्त दर्शन) ही केवल दो ऐसे दर्शन हैं जो मूलरूप से वेदों पर आधारित हैं। मीमांसा विचारक वेदों के कट्टर विश्वासी और प्रचारक हैं। उन्होंने बुद्ध धर्म को देश निकाला देने में बहुत बड़ा भाग लिया है। वेदवादी होकर भी यह दर्शन ईश्वर विश्वास का खण्डन करता है। मेरा विचार है कि यदि हिन्दुस्तान में मुसलमानों और ईसाइयों की हकूमत न होती या उनकी जगह कन्फ्यू-शियस और ताओ जैसे नास्तिक धर्मों को मानने वालों ने हकूमत की

---

७. एनसाईक्लोपीडिया. आफ रिलिजियन एण्ड फिलौसफ़ी, खण्ड १२ सफ़ा ८३१-३२ *Encyclopaedia of Religion and Philosophy,* vol. xii, p. 831-32.

होती तो स्वामी दयानन्द जी भी जैमिनी, प्रभाकर, और कुमारिल भट्ट जैसे महा वैदिक विद्वानों की भांति वेदों को नास्तिक ही सिद्ध करते ।

मीमांसक विचारकों का कहना है कि ईश्वर के सर्वज्ञ होने का कोई प्रमाण नहीं। सर्वज्ञ ही जान सकता है कि कोई और सर्वज्ञ है।[८] एक छोटा बालक अपने पिता के बारे में समझता है कि मेरे पिता जी को सब कुछ आता है चाहे उसके पिता जी कई बार मैट्रिक का इम्तिहान देकर भी पास न हो पाए हों। सीमित समझ रखने वाले हम मनुष्यों का ईश्वर के बारे में यह विश्वास कि वह सर्वज्ञ है इस बालक के अपने पिता के सम्बन्ध में सर्वज्ञ होने के विश्वास के समान है। हम किसी प्रकार यह नहीं जान सकते कि ईश्वर के ज्ञान की क्या सीमा है ।

मीमांसा दर्शन की ईश्वर विश्वास के विरुद्ध एक और युक्ति यह है। घटनाओं का कारण जरूर है परन्तु विश्व का कोई कारण या सृष्टा नहीं, क्योंकि विश्व अनादि है।[९] यदि विश्व का कारण भी हो तो ईश्वर इसका कारण नहीं हो सकता। रचना करने के लिए शरीर की आवश्यकता है। शरीर के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। शरीर रहित ईश्वर इस विश्व की रचना कैसे कर सकता है।[१०]

उत्तर मीमांसा या वेदान्त दर्शन मूल रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है। एक अद्वैत वेदान्त और दूसरा विशिष्टाद्वैत वेदान्त कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सगुण ईश्वर का विचार अज्ञानता का चिह्न है। वास्तव में तत्त्व मीमांसा यह है कि विश्वव्यापी निर्गुण चेतना ही सार है। आत्मा या पुरुषों की भिन्नता मिथ्या है। सब आत्मा एक आत्मा हैं और इसे ब्रह्म कहा जाता है। मनुष्यात्मा और परमात्मा में कोई गुण भेद नहीं। इनका कोई पृथक अस्तित्व

---

८. कुमारिल भट्ट 'श्लोक वार्तिक'।

९. पार्थासारथी मिश्र का भाष्य,, शीर्षक 'शास्त्र दीपिका' तर्कपाद अंग्रेज़ी अनुवाद द्वारा श्री डी० वैंकटरमैया (गायकवाड ओरियंटल सीरीज़ प्रकाशन) १९४०।

१०. कुमारिल भट्ट 'श्लोक वार्तिक' 'अध्याय सम्बन्ध केशव परिहार', श्लोक न: ८२।

नहीं। स्पष्ट है कि ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद में मूल अन्तर है। ईश्वर वाद के लिए यह विश्वास मूल है कि ईश्वर और मनुष्यात्मा में असीम भेद है और किसी अवस्था में भी यह भेद मिट नहीं सकता। ईश्वर असीम अरचित आत्मा है। और मनुष्य सीमित और रचित आत्मा है। प्रोफ़ेसर आर० दास अपने लेख में लिखते हैं "यह कहना ठीक नहीं है कि वेदान्त ईश्वरवाद से आगे जाता है। यह खूब समझ लेना चाहिए कि वेदान्त सब प्रकार के ईश्वरवादों का विरोधी है।"[११]

विशिष्टाद्वैत वेदान्त ही केवल सगुण ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है, यद्यपि इस सिद्धान्त के रचयिता श्री रामानुजाचार्य अपनी पुस्तक 'श्री भाष्य' (अध्याय एक, पाद १, सूत्र ३) में यह सिद्ध करते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को युक्तियों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। ईश्वर के अस्तित्व को साबित करने में सब युक्तियां असफ़ल हैं।[१२] प्रोफेसर एस० एन० दास गुप्ता ने अपनी पुस्तक "ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलौसफ़ी" (खण्ड तीसरा, पृष्ठ १८९-१९०) में रामानुजाचार्य की ईश्वर सम्बन्धी खण्डनात्मक युक्तियों का उल्लेख किया है।

इस सारे वर्णन से स्पष्ट है कि भारत के नौ दर्शनों में से आठ दर्शन आदि रूप में निरीश्वरवादी हैं। यह ठीक है कुछ दर्शनों ने बाद में लोकप्रियता के लिए ईश्वर को असंगत रूप से अपने दर्शन में जगह दी, परन्तु इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि भारतीय दर्शन प्रधान रूप से निरीश्वरवादी है। भारतीय दर्शन की ईश्वर विश्वास के विरुद्ध सोलह मुख्य युक्तियां ये हैं—

(i) इस विश्वास का कोई आधार नहीं कि एक समय था कि जब विश्व नहीं था। इसलिए यह सवाल ही अर्थ रहित है कि विश्व का बनाने वाला कौन है? वही चीज़ बनाई जाती है जो पहले न हो।

---

११. फ़िलासौफ़िकल क्वाटरली खण्ड ५, अंक १, १९२९ लेख शीर्षक वेदान्तिज्म एण्ड थीइज्म पृष्ठ ५५ (*Philosophical Quarterly*, Vol. V, No. 1, 1929, Article entitled *Vedantism and Theism*, p. 55.

१२. सेक्रैड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, खण्ड ४८ पृष्ठ १६१-७४। (Sacred Books of the East, Vol. 48, p. 161-174).

जब इस बात की कोई साक्षी नहीं कि एक समय था जब विश्व न था तो उसके बनाने वाले का सवाल क्यों कर उठ सकता है। (जैन दर्शन)

(ii) कुछ ईश्वरवादियों का कहना है कि विश्व का स्वभाव इस बात की साक्षी है कि इसका कारण है। हमारे विश्व के भौतिक अस्तित्व ऐसे हैं जो विभाजित हो सकते हैं। जो विभाजित हो सकता है वह कार्य है। जो कार्य है उसका कारण अवश्य होगा। इसलिए विश्व का कारण है और वह ईश्वर है। दार्शनिक रामानुज का कहना है कि अनुभव यह बताता है कि उसी वस्तु के कारण का अनुमान लगाया जा सकता है जो बनाई जा सकती है और जिसके उपादान तथा अन्य कारणों की जानकारी हो सकती हो। हमने पृथ्वी, पर्वत, समुद्र को किसी को बनाते नहीं देखा और न ही इनके उपादान तथा अन्य कारणों की जानकारी है। इसलिए हमें कोई तार्किक अधिकार नहीं कि हम ऐसे अस्तित्वों से एक बुद्धिमान ईश्वर का अनुमान निकालें। (विशिष्टाद्वैत)

(iii) हमारा कोई अनुभव नहीं है कि जिसमें सब शिल्पी वस्तुएं एक शिल्पी बनाता हो। इसके विपरीत हमारा यह अनुभव है कि भिन्न भिन्न प्रकार की शिल्पिक वस्तुओं के भिन्न कर्त्ता हैं। विश्व में विश्व के अस्तित्व भिन्न गठन और गुणों के हैं। इसलिए हमारे पास कोई आनुभविक आधार नहीं कि विश्व की अनगिनत भिन्नता का कारण एक ईश्वर है। (बुद्ध दर्शन)

(iv) क्या विश्व की वस्तुएं एक समय में बनाई गईं, या भिन्न-भिन्न समयों में बनाई गईं? हमारे पास कोई अनुभव की साक्षी नहीं कि विश्व एक समय बनाया गया। यदि विश्व के अस्तित्व समय-समय पर बनते रहते हैं तो यह कहना मिथ्या है कि इनके बनाने वाला एक ईश्वर है। हम जानते हैं कि भिन्न-भिन्न समयों में बनी हुई वस्तुओं के भिन्न कर्त्ता होते हैं। (विशिष्टाद्वैत)

(v) हमारे कार्य-कारण के जो अनुभव हैं उनमें कर्त्ता सीमित हैं। हमने जिन को भी वस्तुएं बनाते देखा है वे सीमित कर्त्ता हैं। हमें असीमित कर्त्ता का कोई अनुभव नहीं। इस अनुभव के आधार पर हमें यह कहने का कोई तार्किक अधिकार नहीं कि विश्व का सृष्टा असीमित ईश्वर है।

(विशिष्टाद्वैत)

(vi) कार्य-कारण का सम्बन्ध केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। जहां यह अनुभव नहीं वहां केवल तर्क से कोई ज्ञान प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य-कारण का सम्बन्ध निगमनात्मक नहीं है। मनुष्य का कोई अनुभव नहीं कि जिसमें उसने ईश्वर का विश्व बनाते देखा हो। इसलिए विश्व के होने से इसके कारण का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। ऐसा अनुमान पूर्ण परिकल्पना है।

(सांख्य दर्शन)

(vii) यदि साधारण अनुभव के आधार पर हम यह कहें कि चीज़ें बनाई जाती हैं तो यह भी साधारण अनुभव है कि शरीर के प्रयोग के बिना कोई चीज़ बनाई नहीं जा सकती। यदि विश्व का कोई रचयिता है तो उसका शरीर होना चाहिए। ईश्वर शरीर रहित आत्मा माना जाता है, इसलिए वह विश्व का रचयिता नहीं हो सकता।

(मीमांसा दर्शन)

(viii) ईश्वर के गुणों की जानकारी का कोई आधार नहीं हो सकता। हम सीमितज्ञानी होकर नहीं जान सकते कि ईश्वर सर्वज्ञ है। हमारा ईश्वर को सर्वज्ञ कहना उसी प्रकार से आधार रहित है, जिस प्रकार बालक का अपने पिता को सर्वज्ञ समझना आधार-रहित है। सर्वज्ञ ही जान सकता है कि कोई और सर्वज्ञ है या नहीं।

(मीमांसा दर्शन)

(ix) चैतन्य मन इच्छाबद्ध होकर ही कोई क्रिया करता है। चाहे वह बुरी हो या भली। यदि ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है तो इस कार्य के पीछे अवश्य कोई इच्छा होगी। इच्छा स्वार्थ पूर्ण अथवा परार्थपूर्ण होती है। ईश्वर की इच्छा स्वार्थपूर्ण या वासनिक नहीं हो सकती, क्योंकि फिर ईश्वर बंधात्मा बन जायेगा। उसकी इच्छा परार्थिक भी नहीं हो सकती क्योंकि यदि ऐसा होता तो विश्व में दुखः न होता, परन्तु विश्व दुःखों का घर है। (सांख्य दर्शन)

मूलरूप से भारतीय दर्शन के अनुसार मुक्तात्मा इच्छा-रहित और क्रिया-रहित है। जब ईश्वर मुक्तात्मा है तो इच्छारहित भी और इसलिए क्रियारहित भी है। इस दशा में उसके लिए विश्व रचना की

क्रिया क्योंकर संभव हो सकती है।[१८] (सांख्य दर्शन)

(x) विश्व के अस्तित्वों और मन की क्रियाओं पर कार्य-कारण का नियम काम करता है। यही नियम कर्मों के फल को निश्चित करता है। इसलिए जीवित और अजीवित अस्तित्वों की गति या क्रियाओं और बुरे और भले कर्मों के फल के वर्णन के लिए कार्य-कारण का नियम यथेष्ट है। इससे बाहर कोई कार्य-कर्ता नहीं चाहिए। इसलिए विश्व की घटनाओं और कर्मों के फल के लिए ईश्वर की प्राक्कल्पना की ज़रूरत नहीं। भारतीय दर्शन कार्य-कारण के नियम को अनादि मानता है और यह सब प्रकार की गतियों और क्रियाओं के वर्णन के लिए यथेष्ट मानता है। भारतीय दर्शन का कार्य-कारण की सत्यता पर इतना विश्वास है कि वह ईश्वर विश्वास का तो त्याग कर सकता है परन्तु इस नियम की सत्यता को नहीं छोड़ सकता। प्रोफेसर हरिदास भट्टाचार्य अपनी सम्पादित "दी कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया" (*The Cultural Heritage of India*) खण्ड तीसरा, अध्याय ३८, पृष्ठ ६२९ पर लिखते हैं, "मीमांसा, बुद्ध और जैन दर्शन मिलकर नीति नियम की आत्म-स्वतन्त्रता और आत्म-पर्याप्तता को गम्भीर रूप से स्थापित करते हैं और कर्मफल के गौरवपूर्ण सिद्धान्त का आधार रखते हैं जिसके अनुसार कर्म अपना फल स्वयं उपजाता है और इसमें ईश्वर भी हेर-फेर नहीं कर सकता। न्याय और ईश्वरवादी दर्शनों को बहुत कठिनाई हुई कि किस प्रकार कर्मनियम के आत्मपर्याप्त होने पर ईश्वर को निमित्त कारण समझा जाए।" ईश्वरवादियों को इतनी कठिनाई इसलिए हुई क्योंकि यदि कर्मफल का नियम आत्म-पर्याप्त है तो ईश्वर को निमित्त कारण मानना तर्क दृष्टि से असंगत है। यदि कर्मफल का नियम आत्म-पर्याप्त है तो ईश्वर का त्याग करना ही पड़ेगा।

भारतीय दर्शन इस नियम को अलग-अलग नाम देते हैं। कुछ दर्शन जैसे न्याय-वैशेषिक, इसे अदृष्ट का नियम कहते हैं। मीमांसा दर्शन इसे अपूर्व का नियम कहते हैं। जैन दर्शनाचार्य इसका आश्रव के

---

१७. सांख्य प्रवचन सूत्र ३-४; कुमारिलभट्ट की 'श्लोक वार्त्तिक', अध्याय 'सम्बन्ध निक्षेप परिहार', श्लोक ४७-५६।

रूप में भी वर्णन करते हैं। कार्य-कारण नियम के ये भिन्न-भिन्न नाम होते हुए भी यह सब दर्शन यह सिद्धान्त रखते हैं कि यह नियम अनादि है और स्वचालित है और इसलिए विश्व की रचना और संचालन की दृष्टि से ईश्वर की कोई ज़रूरत नहीं ।

(xi) यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो इसका अर्थ यह हुआ कि सब क्रियाएं उसकी शक्ति से होती हैं। यदि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है तो उसकी शक्ति से परिचालित सब क्रियाएं श्रेष्ठ हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर ने हमें शक्ति दी है और हमें आज़ादी दी है कि हम जैसे चाहें प्रयोग करें। कारण यह है कि आजादी की शक्ति स्वयं ईश्वर की शक्ति है। यदि हम इस शक्ति का दुरुपयोग करते हैं तो जिस शक्ति के द्वारा दुरुपयोग करते हैं वह स्वयं ईश्वर की शक्ति है। ईश्वर की शक्ति से बाहर कोई शक्ति नहीं है। यही सर्वशक्ति का अर्थ है।

यदि ईश्वर के बाहर कोई शक्ति हो तो वह सर्वशक्तिमान नहीं है। उसकी शक्ति सीमित रह जायेगी। यदि ईश्वर है और वह सर्व-शक्तिमान है और सर्वश्रेष्ठ है तो बुरे और भले कर्मों का कोई भेद नहीं हो सकता क्योंकि सब कर्म ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ शक्ति के फल हैं। परन्तु अच्छे और बुरे कर्मों का भेद मूलभेद है। विश्व में बुराई की महामारी है। इसलिए सर्वशक्तिमान और सर्वश्रेष्ठ परिभाषा वाले ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। (बुद्ध-दर्शन)

(xii) भारतीय दर्शन मूलरूप से निरीश्वरवादी है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आस्तिक और नास्तिक नौ दर्शनों में से जो आठ दर्शन मोक्ष को आदर्श अवस्था मानते हैं (चार्वाक दर्शन मोक्ष अवस्था को नहीं मानता।) उन दर्शनों में से केवल एक ही दर्शन मोक्ष अवस्था को ईश्वर अनुभूति मानता है। बाकी कोई भी दर्शन मोक्ष अवस्था को ईश्वर के समान होने या एक हो जाने या लय हो जाने में नहीं मानता। लगभग सारे दर्शन मोक्ष को आत्मा की शरीर रहित और दुखरहित अवस्था मानते हैं।

(xiii) किसी भी अस्तित्व के होने का ज्ञान या तो प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा होता है या अनुमान से होता है जिसकी परख प्रत्यक्ष अनुभव से हो सकती हो। आज के वैज्ञानिक युग में प्रयोग अनुमान की

जांच में सहायक है। ईश्वर का न तो प्रत्यक्ष इन्द्रिय अनुभव है, न ही उसके सम्बन्ध में निकाले हुए अनुमानों की प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा या प्रयोग द्वारा जाँच हो सकती है। इसलिए ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं। (देवात्मा दर्शन)

(xiv) योगी का अनुभव ईश्वर विश्वास के लिए कोई साक्षी नहीं। योगावस्था का अनुभव प्रत्यक्ष अनुभव का ही प्रतिनिधि है। यह कोई सत्य ज्ञान का स्वतन्त्र स्रोत नहीं। जब योग अनुभव सत्य ज्ञान का स्वतन्त्र आधार बनता है तो वह मिथ्यापूर्ण हो जाता है। (विशिष्टाद्वैत)

(xv) वेदों में ईश्वर का विवरण ईश्वर अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता। वेदों में कई बातें दी गई हैं जो मिथ्या हैं। (जैन धर्म) वेदों के कट्टर मीमांसा दार्शनिक यह सिद्ध करते हैं कि वेदों में देवी देवताओं तथा ईश्वर का विवरण केवल शब्द मात्र हैं।

(xvi) वेदों से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने में चक्र-प्रकथन दोष पैदा हो जाता है। हम पूछते है कि वेद सत्य क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि वेद ईश्वर की वाणी हैं। हम पूछते हैं कि कैसे जानें कि ईश्वर है? इसका उत्तर यह है कि इसका वेदों में विवरण है। स्पष्ट है कि इस युक्ति में चक्र-प्रकथन दोष है। हम वेदों की सचाई ईश्वर से सिद्ध करते हैं और ईश्वर की सच्चाई वेदों से सिद्ध करते हैं।

: ३ :

निरीश्वरवाद और अध्यात्मवाद

यद्यपि भारतीय दर्शन मूल रूप से निरीश्वरवादी है परन्तु वह जड़वादी नहीं। यह समझना **महा भूल है कि निरीश्वरवाद जड़वाद है।** जड़वाद निरीश्वरवाद है परन्तु निरीश्वरवाद जड़वाद नहीं। जैनधर्म और दर्शन ईश्वर को नहीं मानते परन्तु आत्मा को तात्त्विक अस्तित्व मानते हैं। अर्थात् वे आत्मा को अनादि और अमर मानते हैं। इसकी मोक्ष की अवस्था को कर्मिक रहित अवस्था मानते हैं। इनके मोक्ष-प्राप्त तीर्थंकर वासना रहित और उत्तमोत्तम पवित्र आध्यात्मिक जीवन को प्राप्त हुए आत्मा हैं। इसी प्रकार बुद्ध धर्म और दर्शन भी निरीश्वर-वादी है परन्तु बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियां निर्वाण प्राप्ति की उच्च आध्यात्मिक अवस्था विकसित करते हैं। देवधर्म और दर्शन भी निरी-श्वरवादी है परन्तु इनके उच्च भक्त, नीच अनुरागों और नीच घृणाओं से मुक्त और सातिवक जीवन से विशिष्ट जीवन की प्राप्ति को आदर्श मानते हैं। साँख्य दर्शन और मीमांसा दर्शन दोनों ही निरीश्वरवादी हैं, परन्तु दोनों ही आत्मा को तात्विक अस्तित्व मानते हैं और उसकी शरीर रहित मोक्षावस्था में विश्वास रखते हैं। ये सब ऐतिहासिक उदाहरण इस बात के साक्षी हैं कि निरीश्वरवाद जड़वाद के साथ एक नहीं किया जा सकता। इससे भी आगे ये उदाहरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि निरीश्वरवाद उत्तमोत्तम आध्यात्मिक जीवन के साथ संगत है। प्रोफेसर कालीदास भट्टाचार्य जो पहले संस्कृत कालिज कलकत्ता में भारतीय दर्शन के प्रोफेसर थे और विश्वभारती विश्व-विद्यालय शान्तिनिकेतन के भूतपूर्व उपकुलपति थे, अपनी पुस्तक 'फ़िला-सफ़ी, लौजिक एण्ड लैंग्वेज' (*Philosophy, Logic and Language*)

के अध्याय शीर्षक 'दी कान्सेप्ट आफ गोड इन इन्डियन फ़िलासफ़ी' (The Concept of God in Indian Philosophy) पृष्ठ २३३-२३४ पर ठीक ही लिखते हैं, "चार्वाक, बौद्ध, जैन, हां हिन्दू दर्शनों में भी सांख्य और मीमांसा ईश्वर के विश्वास का खुल्लमखुल्ला खण्डन करते हैं। परन्तु तब भी इन दर्शनों के अनुयायी उच्च आध्यात्मिकता को प्राप्त हुए हैं। ये बात पश्चिमी लोगों के लिए मानना कठिन है कि निरीश्वरवाद और अध्यात्मवाद क्योंकर इकट्ठे जा सकते हैं। बुद्ध, जैन, सांख्य और मीमांसा प्रकृतिवादी या जड़वादी न थे। इनके धर्म का आधार यद्यपि नीति शास्त्र था तथापि वे इतने ही अध्यात्मवादी थे जितना कोई अन्य धर्म हो सकता है। इनके मानने वालों ने आध्यात्मिक जीवन की उच्च से उच्च श्रेणी प्राप्त की।"

इसी प्रकार निरीश्वरवाद और नीति शास्त्र में कोई विरोध नहीं। ये भी महा भूल है कि ईश्वर विश्वास के बिना कोई व्यक्ति उच्च चरित्र को प्राप्त नहीं कर सकता। बुद्ध धर्म, जैन धर्म और देव धर्म तीनों निरीश्वरवादी धर्म हैं। इन धर्मों ने अपने अनुयायियों में उच्च कोटि का चरित्र निर्माण किया है। प्रोफेसर हरिदास भट्टाचार्य जो पहले बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में भारतीय दर्शन और धर्म के प्रोफेसर थे और अब केलेफोर्निया इन्स्टीट्यूट आफ एशियन स्टडीज़, सेनफ्रेन्सिंसको (California Institute of Asian Studies) के अध्यक्ष हैं 'दी कल्चरल हेरिटेज आफ इन्डिया' (*The Cultural Heritage of India*) खण्ड तीसरा, अध्याय शीर्षक 'हिन्दू एथिक्स' (Hindu Ethics) पृष्ठ ६२६ पर लिखते हैं, "बुद्ध धर्म और जैन धर्म का वेदों के देवी देवताओं में विश्वास उठ गया था परन्तु ऐसे विश्वास के उठने से इनके अनुयायियों में अनैतिक जीवन को प्रोत्साहन नहीं मिला। इसके विपरीत हम देखते हैं कि इन धर्मों में नीति-स्थिति बढ़ी, त्याग बढ़े और दुनिया की साथ लगाव के लिए ज्यादा वैराग्य पैदा हुआ। यह विश्व के धार्मिक इतिहास की बड़ी अनुपम घटना है क्योंकि साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि ईश्वर के विश्वास के बिना नीति जीवन स्थिर नहीं रह सकता। इन धर्मों के इतिहास से स्पष्ट है कि भारत में ईश्वर की प्रसन्नता की जगह पर नीति नियमों को नीति जीवन का आधार

बनाया।" बुद्ध, जैन और देवधर्म इस सत्य की ऐतिहासिक साक्षी हैं कि ईश्वर न तो आध्यात्मिक जीवन और न ही उच्च चरित्र का आधार है। ये दोनों ही ईश्वर के बिना फल-फूल सकते हैं और फले फूले हैं।

: ४ :

आधुनिक भारतीय दर्शन में निरीश्वरवाद

हमने अब तक भारत के मध्यकाल तक के दर्शनों का वर्णन किया है। मध्यकाल से अब तक कोई नया दर्शन नहीं रचा गया। प्रोफेसर पी० टी० राजू जो राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के दर्शन विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष थे और अब अमेरिका के ओहिओ (Ohio) विश्व-विद्यालय के वूस्टर कालिज में प्रोफेसर हैं, अपनी पुस्तक 'कन्सेप्ट आफ मैन' (*Concept of Man*) के पृष्ठ २०६ पर लिखते हैं, "बीसवीं शताब्दी के भारतीय विचारक पश्चिमी विचारधारा से बहुत प्रभावित हुए हैं परन्तु वे तब भी वेदों और उपनिषदों से ही अपने विचारों के लिए उत्साह पाते हैं वे अपने सिद्धान्तों को केवल इन ग्रन्थों का अर्थ वर्णन ही दर्शाते हैं।" इसी प्रकार डाक्टर वी.एस. नारवाने अपनी पुस्तक 'मार्डन इन्डियन थॉट' (*Modern Indian Thought*) पृष्ठ ५ में लिखते हैं, "आज के युग में भारत में कोई नया सिद्धान्त नहीं रचा गया जो सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा और अन्य प्राचीन ग्रन्थों के तुल्य हो। साधा-रण रूप से यह कहा जा सकता है कि भारतीय तत्त्व मीमांसा लगभग मध्ययुग की ही रही है।"

मूलरूप से इन दोनों दार्शनिकों की बात ठीक है। बीसवीं शताब्दी में हमारे देश में जो महान विचारक हुए हैं उन्होंने पुराने ग्रन्थों का अर्थवर्णन ही किया है। उसे अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत मात्र किया है और इसे नया जामा पहनाया है। डा० राधाकृष्ण, प्रोफ़ेसर एस० एन० दास गुप्ता, प्रो० के० सी० भट्टाचार्य, स्वामी दयानन्द, श्री रमन, श्री रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द जी आदि प्रसिद्ध विचारक और रहस्यकार प्राचीन ग्रन्थों का ही अपने विचारों और

जीवन से स्पष्टीकरण करते हैं। उनकी तर्क और आधुनिक विज्ञान से पुष्टि करते हैं। मध्यकाल के पश्चात बीसवीं सदी में केवल एक ही नया सिद्धान्त हुआ है, जो ग्रन्थों से स्वतन्त्र है और वह है देवात्मावाद। देवात्मावाद विकासवादी प्राकृतिकवाद है। वह वैज्ञानिक विधि कोही सत्यज्ञान की विधि मानता है। इस विधि के अनुसार वही विश्वास मानने योग्य हैं जो तर्क और वैज्ञानिक विधि पर ठीक उतरें। ईश्वर या अन्य तात्त्विक अस्तित्व जो तर्क और अनुभव पर पूरे नहीं उतरते वे मिथ्या हैं। इस वाद के अनुसार प्रकृति से भिन्न और बाहर कोई अस्तित्व नहीं। जो भी प्रकृति में अस्तित्व हैं वे जड़ और शक्ति सम्पन्न हैं। जड़ और शक्ति का अटूट सम्बन्ध है। शक्ति का स्वभाव परिवर्तन पैदा करना है। भिन्न-भिन्न शक्तियां भिन्न-भिन्न परिवर्तन पैदा करती हैं। इन शक्तियों का परिवर्तन उनके स्वभाव के अनुसार है और इसके फलस्वरूप वे नियमबद्ध हैं। किसी शक्ति के लिए ज़रूरी नहीं कि वह चेतन हो और तभी वह नियमानुसार परिवर्तन पैदा कर सकती है। उदाहरण के लिए किसी बीज की शक्ति में यह योग्यता है कि वह नियमबद्ध होकर अपने स्वभाव के अनुसार विशेष प्रकार के वृक्ष निर्माण करे। सेब का बीज ठीक वातावरण मिलने पर सेब के वृक्ष का निर्माण करता है और आम की गुठली की शक्ति ठीक वातावरण मिलने पर आम के वृक्ष का निर्माण करती है। इन दोनों बीजों की शक्ति अचेतन है। इनमें कोई बुद्धि नहीं और न ही इन शक्तियों का बाहर से कोई निर्देश करता है, तब भी ये शक्तियां गठनपूर्ण विकास की योग्यता रखती हैं। सूर्य परिवार के घटक नियमानुसार ही गतिमान हैं यद्यपि ये गतियां अजीवित शक्तियों से परिचालित होती हैं। वे पूर्ण रूप से अचेतन हैं। विश्व में जीवित और अजीवित शक्तियों के अनु-सार ही सब परिवर्तनों का वर्णन किया जा सकता है। देवात्मा एक स्थान पर लिखते हैं, "अब इन शक्तियों में से कोई ऐसी शक्ति नहीं जो वह गुण रखती हो कि जो ईश्वर नामक पुरुष में बताए जाते हैं। दृष्टांत रूप में हम पूछते हैं कि क्या निर्जीवन अन्ध शक्तियों में से कोई शक्ति ईश्वर है अर्थात् क्या भाप-शक्ति ईश्वर है ? क्या जिस अग्नि व ताप शक्ति से नाना धातुओं में रासायनिक परिवर्तन होता है, लकड़ी

जल उठती है, खाने की चीज़ पक कर नया रूप धारण करती है, वृक्षों के फल पक कर नया रूप और स्वाद ग्रहण करते हैं, हवा गर्म होकर लू बन जाती है, वह ताप-शक्ति ईश्वर है? इन प्रश्नों के उत्तर में ईश्वर-वादी अवश्य ये कहेंगे कि इनमें से कोई शक्ति ईश्वर नहीं।...अब आगे चलकर हम फिर प्रश्न करते हैं कि क्या अद्‌भुत जगत, क्या पशु जगत और क्या मनुष्य जगत के आकारों में जो भांति-भांति की अनगिनत जीवनी शक्तियां काम कर रही हैं उनमें से कोई जीवनी शक्ति ईश्वर है ? इसके उत्तर में भी ईश्वरवादी यही कहेंगे कि इनमें से कोई भी शक्ति ईश्वर नहीं।[1]

विज्ञान विश्व की घटनाओं का वर्णन करने में ईश्वरीय शक्ति को कोई जगह नहीं देता जिससे स्पष्ट है कि विज्ञान प्रकृति को स्वयं पूर्ण मानता है। जब विश्व स्वयं पूर्ण है तो इसका कोई रचयिता नहीं हो सकता।

---

१. 'मुझमें देवजीवन का विकास', खण्ड १, छापा १९६५, अध्याय २३, पृष्ठ १४५-४६, और देवशास्त्र दूसरा खण्ड, अध्याय १, छापा १९७०, पृष्ठ ७९-८४।

: ५ :

आधुनिक पश्चिमी दर्शन में निरीश्वरवाद

आज के इंगलिस्तान, यूरोप और अमेरिका में दो दर्शन प्रधान हैं। एक भाषा विश्लेषण दर्शन (Philosophy of Linguistic Analysis) और दूसरा अस्तित्व दर्शन (Existentialism)। भाषा विश्लेषण दर्शन जिसमें तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism) सम्मिलित है, के मुख्य प्रतिनिधि बर्ट्रेण्ड रसल, प्रो० जी० ई० मूर, प्रो० एल० विटगेनस्टाईन प्रो० एम० श्लिक और प्रो० आर० कार्नेप, प्रो० एच० फीगल, प्रो० ओ० न्यूरथ तथा प्रो० ए० आयर और प्रो० जी० राईल आदि हैं। इस दर्शन के अनुसार दर्शन का कार्य भाषा का तार्किक विश्लेषण करना है। इस विश्लेषण के फलस्वरूप इस दर्शन के बहुत से दार्शनिकों की यह घोषणा है कि तत्त्वमीमांसिक शब्द जैसे 'परमात्मा या 'ब्रह्म' अर्थरहित शब्द हैं और जिन वाक्यों में इन शब्दों का प्रयोग होता हैं वे वाक्य भी अर्थ रहित हैं। वही वाक्य सत्य या असत्य हो सकते हैं जो अर्थपूर्ण हों। जो शब्द अर्थ रहित हों वे यदि किसी वाक्य में हों तो वे वाक्य अर्थ रहित हैं और इसलिए सत्य और असत्य की परख से निष्कासित हैं। इनके अनुसार यह कहना कि 'ईश्वर है' अर्थ रहित है। क्योंकि ईश्वर शब्द का कोई अर्थ नहीं।

इस दर्शन के अनुसार यदि किसी शब्दका अर्थ जानना हो तो हमें यह जानना चाहिए कि इस शब्द का किन परिस्थितियों में प्रयोग हो सकता है। मान लीजिए कि कोई जन एक नए शब्द अर्थात् 'चीकी' की रचना करता है और कहता है कि कुछ अस्तित्व 'चीकी' हैं और कुछ अस्तित्व 'चीकी' नहीं हैं। इस नए शब्द का अर्थ जानने के लिए हम उससे पूछते हैं कि भाई साहब हमें इस शब्द के प्रयोग की कसौटी बता-

इये ताकि हम किसी ठोस अवस्था में जान सकें कि कौनसा अस्तित्व 'चीकी' है। यदि वह जन कहे कि ऐसे अस्तित्वों का कोई अनुभवात्मक चिन्ह नहीं परन्तु ऐसे अस्तित्व हैं और वे हमारी समझ से बाहर हैं तो हम उसे कहेंगे कि उसका शब्द अर्थ रहित है। यदि वह कहे कि नहीं इस शब्द का अर्थ है परन्तु इसका कोई वर्णन नहीं हो सकता तो हम इसका मतलब यह निकालेंगे कि उसके मन में इस शब्द के साथ कुछ अस्पष्ट भाव सम्बद्ध हैं और कुछ नहीं। जिस वाक्य में इस शब्द का प्रयोग होता है उस वाक्य का सत्य और असत्य से कोई सम्बन्ध नहीं।

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए हम एक और दृष्टांत लेते हैं। मान लो कि कोई जन एक नये शब्द अर्थात् 'मीकी' की रचना करता है और कहता है कि ये शब्द सब तिकोण रूपी अस्तित्वों पर लागू होता है। जो भी अस्तित्व तिकोण रूपी है उसे 'मीकी' कहा जा सकता है। परन्तु 'मीकी' का अर्थ और भी है और वह ज़्यादा गहरा अर्थ है। सब तिकोनें 'मीकी' के प्रकाश हैं, इसकी लीला है, परन्तु 'मीकी' स्वयं गुप्त अस्तित्व है, वह हमारे अनुभव से बाहर है। हम उसे कहेंगे कि देखो यदि 'मीकी' का अर्थ तिकोन रूपी अस्तित्व है तो यह अर्थ पूर्ण शब्द है, परन्तु जब आप इस शब्द के साथ ऐसे विचार जोड़ते हैं जो अनुभव से बाहर हैं तो वह शब्द अर्थपूर्ण नहीं रह जाता, जिसके अस्तित्वों के सम्बन्ध में प्रयोग कसौटी नहीं। किसी शब्द का वही और उतना ही अर्थ है जितना उसकी प्रयोग कसौटी सम्भव करती है। अब 'ईश्वर' शब्द लीजिए। यदि ईश्वर के शब्द को पौराणिक अर्थ में लिया जाय तो ये शब्द अर्थपूर्ण है। पौराणिक रूप में ईश्वर का अर्थ देवी देवताओं से है। देवी-देवता मनुष्य रूप के से ही अस्तित्व हैं। वे मनुष्यों जैसी भावनाएँ और शरीर रखते हैं। वे सामाजिक जीवन भी रखते हैं। इस अर्थ में ईश्वर शब्द उसी प्रकार अर्थमय शब्द है जिस प्रकार स्त्री या पुरुष शब्द हैं। इनकी परख उसी तरह से हो सकती है जिस तरह से किसी मनुष्य के होने या न होने की हो सकती है। हम परख द्वारा जान सकते हैं कि कोई देवी देवता है या नहीं, अर्थात् ईश्वर का विश्वास सत्य है या नहीं। परन्तु यदि ईश्वर का अर्थ शरीर रहित आत्मा है जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वश्रेष्ठ अस्तित्व है और इस अनुभवी दुनियां

का निर्माण करता है परन्तु अनुभवी दुनियां का भाग नहीं और न ही अनुभवी दुनियां को जानने की विधियों द्वारा जाना जा सकता है, तो ये शब्द अर्थ रहित है। जिस वाक्य में 'ईश्वर' का शब्द आता है वह सत्य ज्ञान के सन्दर्भ से बाहर है। उसका विज्ञान और दर्शन में कोई काम नहीं।

देवी देवताओं के अर्थ में ईश्वर अर्थपूर्ण शब्द था, परन्तु बाद में उसके पहले अर्थ को निकाल दिया गया क्योंकि ये अनुभव हुआ कि सीमित शक्तियों का अस्तित्व [विश्व का रचयिता या पोषक क्यों कर हो सकता है। विश्व का रचयिता या पोषक तो अनंत पुरुष होना चाहिए और इसलिए देवीं देवताओं के स्थान पर ईश्वर का शब्द रचा गया। ईश्वर अनंत पुरुष है। परन्तु अनंत पुरुष आत्मविरोधी विचार है। जिस किसी भी अस्तित्व का व्यक्तित्व है वह सीमित है। सीमितता से ही व्यक्तित्व सम्भव है। इसलिए अनंत व्यक्ति असम्भव है। इसलिए कई विचारकों ने ईश्वर शब्द से पुरुष का अर्थ उड़ा दिया और यह कहा कि ईश्वर कोई व्यक्ति या अस्तित्व नहीं। वह केवल सब अस्तित्वों का आधार है (He is Being of beings)। इस अर्थ में ईश्वर को गुणरहित माना गया है। मनुष्य का कोई भी गुण शाब्दिक रूप में ईश्वर के लिए सत्य नहीं, परन्तु वह सब अस्तित्वों का आधार है।

इस ऐतिहासिक वर्णन से स्पष्ट है कि किस प्रकार एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न समय में नये अर्थ दिए जाते हैं। भाषा विश्लेषण सिद्धान्त का विचार यह है कि किसी शब्द को नए अर्थ देने की कोशिश में वह शब्द कई बार निरर्थक हो जाता है। ईश्वर के बारे में यह कहना कि वह अस्तित्वों का आधार है और स्वयं कोई अस्तित्व नहीं है, ईश्वर शब्द को अर्थरहित बना देता है। ईश्वर किस अर्थ में सब अस्तित्वों का आधार है ? उदाहरणार्थ भोजन रक्त के बनने का आधार है अर्थात् भोजन विशेष विधि से रक्त बन जाता है। यदि भोजन न हो तो रक्त न बनेगा। भोजन और रक्त दोनों का सम्बन्ध कार्य-कारण का है और ये इन्द्रिय अनुभव द्वारा जाना जा सकता है। क्या ईश्वर और सीमित व्यक्तियों का सम्बन्ध इस प्रकार का है ? नहीं। हम सीमित व्यक्तियों को तो अनुभव द्वारा जान सकते हैं परन्तु अनंत पुरुष या निर्गुणी ब्रह्म को

तो हम अनुभव द्वारा नहीं जान सकते। इसलिए ये सम्बन्ध भी नहीं जान सकते। कार्य-कारण के सम्बन्ध का अर्थ हम अनुभव द्वारा जानते हैं। ये सम्बन्ध काल के साथ बँधा हुआ है। इस सम्बन्ध में जो अस्तित्व हैं वह स्वयं भी काल के आधीन हैं। कार्य-कारण दोनों विशेष काल में आरम्भ होते हैं। ऊपर वाले उदाहरण में भोजन भी विशेष समय में बनता है और रक्त भी विशेष समय में बनता है। स्पष्ट है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध ऐसे अस्तित्वों का सम्बन्ध है जो विशेष काल में प्रकट होते हैं और नष्ट होते हैं। इसलिए कार्य-कारण के अर्थ में ईश्वर इस विश्व का सृष्टा या पोषक या आधार नहीं हो सकता। आधार का शब्द ईश्वर और विश्व के सम्बन्ध को कोई अर्थ प्रदान नहीं करता। यह कहना कि ईश्वर वह अस्तित्व है जो सब अस्तित्वों का आधार है अर्थरहित वाक्य है। आधार का कार्य-कारण अर्थ में कोई अर्थ नहीं बनता। कई अनुभवी विचारक ये मानते हैं कि आधार का अर्थ वही नहीं जो एक सांसारिक वस्तु दूसरे वस्तु के साथ रखती है। ये सम्बन्ध अवर्णनीय हैं। भाषा विश्लेषण दर्शन वाले कहते हैं कि ऐसे विचारक एक अर्थ-रहित शब्द को अवर्णनीय कहकर उसकी पुष्टि करते हैं। इनका कहना है कि यह कहना कि ईश्वर या ब्रह्म का विश्वास मिथ्या है ईश्वरवादियों को उदारता दिखाना है। ये विश्वास मिथ्या नहीं क्योंकि मिथ्या विश्वास भी वह विश्वास है जो कम से कम अर्थपूर्ण हो। ये ईश्वर विश्वास अर्थ-रहित है ! इसे मिथ्या की पदवी भी नहीं दी जा सकती। भाषा विश्लेषण के सब दार्शनिक इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि धर्म की भाषा ज्ञान अनुभव से सम्बन्ध नहीं रखती। इस भाषा का केवल हमारे अस्पष्ट भावों से सम्बन्ध है। धर्म के शब्द हमारे भावों से संबद्ध हैं इसलिए हम इनके बारे में इतने पक्षपाती हैं कि तर्क द्वारा स्पष्ट की हुई बात दिल को नहीं लगती।[1] (देखिये पृष्ठ ५०-५२)

---

१. भाषा विश्लेषण दर्शन की दृष्टि को समझने के लिए प्रो० ए० जे० एयर की सम्पादित पुस्तक "लोजिकल पोज़ीटिविजम्" (Logical Positivism) के लेख पढ़िये। इन लेखों में स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार तत्त्व मीमांसा के विषय जैसे ईश्वर या ब्रह्म अर्थ-रहित शब्द हैं और इसलिए जिन वाक्यों में ये शब्द पाये जाते है वे वाक्य भी अर्थ रहित हैं।

अब अस्तित्ववाद (Existentialism) को लीजिए। इस समय जो दो विश्व प्रसिद्ध अस्तित्ववादी हैं वह हैं हेडगर (Heidegar) और सार्त्रे (Sartre)। हेडगर जर्मनी के और सार्त्रे फ्रांस के प्रधान अस्तित्ववादी दार्शनिक हैं। ये दोनों अस्तित्ववादी यूरोप में छाये हुए हैं। हेडगर का कहना है कि दर्शन का काम अस्तित्व (Being) को समझना है। अस्तित्वों में मनुष्य का अस्तित्व विशेष है क्योंकि मनुष्य अपने अस्तित्व का आप अध्ययन कर सकता है। मनुष्य अपने अस्तित्व में क्या पाता है। मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह विश्व में फेंका गया है जैसे किसी को उसकी इच्छा के बिना जंगल में फेंक दिया जाये। उसका इस विश्व में होने का कोई अर्थ नहीं और जिस विश्व में वह अपने आपको पाता है उसका भी कोई अर्थ नहीं। परन्तु वह यह भी अनुभव करता है कि वह अपने जीवन और विश्व को अर्थ दे सकता है। मनुष्य विश्व की चीज़ों को अपने आदर्शों के अनुसार रंग-रूप देता और संगठित करता है। उदाहरणार्थ—लकड़ी का कोई अर्थ नहीं लेकिन मनुष्य उसे मेज़, कुर्सी, दरवाज़ा या खिड़की का रूप देकर उसे अर्थपूर्ण बनाता है। सब जानते हैं कि मनुष्य ने किस प्रकार भौतिक जगत, वनस्पति और पशु जगत को अपनी सफ़लताओं का साधन बनाया है। इन तीनों जगतों के अस्तित्व उसके लिए साधन मात्र हैं। मनुष्य अपने जीवन को भी अर्थ देता है। वह योग्यता रखता है कि कुछ मूल्यों को अपनाये या जीवन का कोई आदर्श बनाये और उन्हें या उसे अपने जीवन में सिद्ध करे। इसके साथ-साथ वह यह भी अनुभव करता है कि वह मरणशील है। वह मृत्यु से भाग नहीं सकता। यह सम्भावना उसकी चेतना को चिंतामय (Dread) बना देती है। वह इस चिन्ता से बचने के लिए अपने आपको मानवसमूह में समाने की कोशिश करता है और इस प्रकार मौत के अनुभव से अपने आपको बचाता है। वह यह कहकर तसल्ली कर लेता है कि सबको ही मरना है। वह अपनी मृत्यु की वास्तविकता का सामना नहीं करता। हेडगर के अनुसार वही व्यक्ति सच्चा जीवन व्यतीत करता है जो इस चिंता का सामना करता है कि उसका जीवन सीमितहै, समय के आधीन है और मरणशील है। उसका आगे पीछे कुछ नहीं। उसका आरम्भ अर्थरहित है और उसका अन्त शून्य है। यदि हेडगर ईश्वर को मानता तो वह

मनुष्य के अस्तित्व का यह चित्र न खींचता। वह यह नहीं कहता कि मनुष्य का आरम्भ अर्थरहित है। वह मृत्यु को इतनी महत्ता न देता और मनुष्य का अंत शून्य न बताता और न ही मनुष्य की चिंता को जीवन का रहस्य बताता। जब हेडगर के लिए अस्तित्व की परिभाषा ही यह है कि वह समय के आधीन है और मरणशील है तो ईश्वर का अस्तित्व क्योंकर सम्भव है ? पादरी कोपलेस्टन (Father Copleston) जो एक बड़े धर्म दार्शनिक हैं अपनी पुस्तक 'कान्टेम्परेरी फ़िलासफ़ी' (*Contemporary Philosophy*) के १८३ पृष्ठ पर लिखते हैं, "हेडगर का कहना है कि मनुष्य और वस्तुओं के अस्तित्व के बिना कोई और अस्तित्व नहीं। अस्तित्व की परिभाषा ही यह है कि वह सीमित और समय के आधीन हो। अतएव असीमित अस्तित्व (ईश्वर) जो काल की अवधि में न आये उसका इस सिद्धांत में कोई स्थान नहीं है।"

सार्त्रे भी मनुष्य चेतना के अध्ययन को दर्शन का मुख्य कार्य समझते हैं। इनके अनुसार मनुष्य-चेतना और चेतनारहित अस्तित्वों में आकाश पाताल का अन्तर है। चेतनारहित अस्तित्व गुणसम्पन्न हैं और गुण ही उनकी परिभाषा है। एक चाक लीजिए। इसका रंग सफेद है। इसकी लम्बाई लगभग ३ इंच है। यह चौड़ाई में गोल है। वह छूने में नर्म है। ये सब चाक के वर्णन है। पौधे, पशु और पक्षी भी इसी गिनती में हैं। वह अपने निश्चित स्वभाव के अनुसार बढ़ते, बिगड़ते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उनके बढ़ने और बिगड़ने का इतिहास उनकी परिभाषा है। यह सब अस्तित्व अपने आपको अपने इतिहास से अलग होकर दर्शक की स्थिति से नहीं देख सकते। वे और उनके गुण एकरूप हैं। मनुष्य चेतना इन चीज़ों से पूर्णतः भिन्न है। मेरी चेतना मेरे पूर्वजीवन के नाटक को दर्शक की स्थिति में देख सकती है। मैं अपने पूर्वजीवन को उसी तरह देख सकता हूं जैसे मैं फिल्म देखता हूं। मैं अपने बचपन, स्कूल और कालिज के दिनों और अपने बच्चों और पत्नी के साथ गुज़ारे हुए जीवन को फिल्म की तरह अपने सामने गुज़रते हुए देखता हूं। स्पष्ट है कि मेरी चेतना और मेरी जीवनी एक नहीं। क्योंकि मेरी चेतना पूर्वजीवन से भिन्न और पृथक अस्तित्व रखती है। मेरी चेतना ज्ञातारूप है और मेरा जीवन ज्ञेयरूप

हैं। मेरी चेतना का दूसरा लक्षण यह है कि वह सदा भविष्य की ओर झुकी रहती है। हम सदा ही कुछ न कुछ चाहते रहते हैं और वही चाहते हैं जो हमारे पास नहीं है। एक विद्यार्थी चाहता है कि वह एम० ए० हो जाये परन्तु बी० ए० कर चुकने के बाद वह यह नहीं चाहता कि वह बी०ए० हो जाये। जो चीज़ हमें मिल जाये फिर उसकी चाहना नहीं रहती। यदि वह विद्यार्थी एम० ए० हो जाये तो उसे एम० ए० की चाहना नहीं रहेगी। एम० ए० करने के बाद एम० ए० उसके पूर्व-जीवन का भाग हो जाता है। वह केवल विषय बन जाता है। चेतना उसे पीछे छोड़ जाती है और नये विषयों की चाहना करती है। चेतना की दृष्टि न समाप्त होने वाले भविष्य पर टिकी रहती है। यदि चेतना भविष्य से नज़र उठा ले और पूर्वजीवन के साथ एकरूप हो जाये तो उसी घड़ी नष्ट हो जायेगी। मृत्यु इसी का नाम है। ईश्वर एक चेतना माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वह सदा ही अपूर्ण अस्तित्व होगा। क्योंकि चेतना का स्वभाव ही अपूर्ण रहना है। पूर्ण-चेतना चेतना नहीं, वह जड़ पदार्थ है। चेतना सफलताओं के साथ एक नहीं, उससे भिन्न है और वह सदा ही अतृप्त और अपूर्ण रहती है। परन्तु अपूर्ण अतृप्त ईश्वर तो परस्पर विरोधी विचार हैं और एक पूर्ण ईश्वर असम्भव विचार है। सार्त्रे खुले रूप से निरीश्वरवादी हैं। उनका कहना है कि उनका सिद्धान्त निरीश्वरवाद पर आधारित है।

सारांश हमने दर्शन का साधारण सर्वेक्षण किया है। अपने देश के दर्शनों का अध्ययन बताता है कि ये मूलतः निरीश्वरवादी हैं। इसके प्राचीन और मध्य काल के नौ दर्शनों में से पांच दर्शन—चार्वाक, बुद्ध, जैन, सांख्य और मीमांसा—निरीश्वरवादी हैं। न्याय, वैशेषिक आदि रूप में निरीश्वरवादी थे। बाद में भी उन्होंने ईश्वर को अपने तत्व-मीमांसा में जगह नहीं दी, केवल उसे अपने विश्वरचना में जगह दी। पुनः इन्होंने ईश्वर के जो गुण दिए वह कोई भी ईश्वरवादी ईश्वर नहीं कहेगा। योगदर्शन में ईश्वर केवल मोक्ष के लिए ध्यान के विषय का स्थान रखता है। तत्व मीमांसा की दृष्टि से नौ में से आठ भारतीय दर्शन निरीश्वरवादी हैं। भारती दर्शन का इतहास इस बात का खण्डन करता है कि निरीश्वरवाद आधुनिक विज्ञान का दुष्फल

है। निरीश्वरवाद वास्तव में विज्ञान से कहीं पहले मनुष्य का विश्वास रहा है। विज्ञान ने केवल उसकी पुष्टि की है। उसने घटनाओं का प्राकृतिक वर्णन देकर सिद्ध किया है कि प्रकृति स्वयं में पूर्ण है। प्रकृति की घटनाओं से ईश्वर सम्बन्धी कोई अनुमान नहीं निकाला जा सकता। प्रकृति में ईश्वर के होने की कोई साक्षी नहीं है। हमारे देश के आधुनिक युग में देवात्मा का दर्शन ही नया दर्शन है और ये दर्शन भी निरीश्वरवादी है। आज के पश्चिमी दर्शनों से भी ये स्पष्ट है कि किस प्रकार भाषा विश्लेषण ईश्वर के विचार को अर्थरहित सिद्ध करता है और अस्तित्ववाद के मुख्य दार्शनिक निरीश्वरवादी हैं। स्पष्ट है कि निरीश्वरवाद का प्राचीन इतिहास महान है। उसका आधुनिक दर्शन में उच्चस्थान है। यदि भूत और वर्तमान काल के सिद्धान्त को भविष्यवाणी का आधार बनाया जाये तो निरीश्वरवाद भविष्य का विश्वास है। यह सत्यवाद है क्योंकि तर्क और तथ्यों के साथ संगत है।

: ६ :

ईश्वर और प्रकृति में अन्तर

पिछले भाग में हमने ऐतिहासिक दृष्टि से निरीश्वरवाद का अति संक्षिप्त अध्ययन किया है। अब हमें इसका तार्किक रूप से अध्ययन करना है। हमारे आगे ये प्रश्न हैं—(क) ईश्वर की क्या परिभाषा है जिसके बारे में हम कहते हैं कि उसका अस्तित्व नहीं? (ख) ईश्वर विश्वास के क्या आधार हैं; तथा क्या वे तार्किक परीक्षा और तथ्यों पर पूरे उतर सकते हैं या नहीं?

कई लोगों का कहना है कि ईश्वर और प्रकृति या नेचर एक ही हैं। ये दोनों ही एक ही सत्य की ओर संकेत करते हैं। ऐसा विश्वास पूर्णतः मिथ्या है।

(i) **ईश्वर** और **नेचर** या **प्रकृति** में **कोई समानता** नहीं। ईश्वर और नेचर में मूल अन्तर ये है कि ईश्वर **एक व्यक्तिगत अस्तित्व** माना जाता है, जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु नेचर या प्रकृति सब छोटे और बड़े जीवित और अजीवित अस्तित्वों के जोड़ का नाम है।[१] वह स्वयं कोई एक व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं। चीज़ों का जोड़ स्वयं कोई चीज़ नहीं। नेचर या प्रकृति उसी प्रकार का शब्द है जिस प्रकार विश्वविद्यालय या सेना शब्द हैं। यदि आप मुझे कहें कि मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय दिखाइये तो मैं आपको उसके कई भवन दिखाऊंगा, जहां भिन्न-भिन्न विषयों के अध्ययन के लिए विद्यार्थी और अध्यापक इकट्ठे होते हैं। इसके बाद आपको ग्रन्थालय भवन दिखाऊंगा और इसके बाद फिर दफ्तरों में ले जाऊंगा तथा बताऊंगा कि यह

---

१. देवात्मा (सत्यानन्द अग्निहोत्री) 'मनुष्य आत्मा के सम्बन्ध में चार महातत्व' विषय प्रवेश, पृष्ठ १

रजिस्ट्रार का कमरा है, यह वित्ताधिकारी का और यह समकुलपति के कमरे हैं। आपको कुछ विद्यार्थियों तथा अध्यापकों से भी मिला दूंगा। यह सब कुछ देखने के पश्चात् यदि आप मेरे से पूछें कि आपने बहुत से भवन तो दिखाये जहां पढ़ाई होती है और ग्रन्थालय की पुस्तकें रखी जाती हैं और दफ्तर के काम होते हैं परन्तु आपने विश्वविद्यालय तो दिखाया ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि विश्वविद्यालय का न तो अलग से कोई अस्तित्व है और न विश्वविद्यालय का कोई सर्वव्याप्त अस्तित्व है जो इन सब भवनों में समाया हुआ हो। वह केवल इन सब भवनों और इनमें होने वाले कार्य के जोड़ का नाम है। जोड़ का कोई व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृति या नेचर शब्द है। यदि आप मुझे कहें कि नेचर या प्रकृति क्या है तो मैं आपका ध्यान पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, और तारों की ओर खींचूंगा। आपको बहुरंगी, बहुसुगंधित फूलों, फलों और सब्ज़ियों का नाम लेकर उन्हें दिखाऊंगा। आपको चिड़िया-घर ले जाकर पशु और पक्षियों से मिलाऊंगा और फिर आपको अपने सम्बन्धियों और साथियों की याद दिलाऊंगा। इसके अतिरिक्त इन जीवित और अजीवित अस्तित्वों के परस्पर सम्बन्ध में जो विज्ञान हैं उनकी ओर आपका ध्यान फेरूंगा। यदि आप मुझसे ये पूछें कि उन सबको तो मैं जानता हूँ परन्तु नेचर या प्रकृति क्या है यह नहीं समझ पाया हूँ तो मैं आपको वही उत्तर दूंगा जो पहले आपको विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में दिया था। नेचर या प्रकृति न तो किसी व्यक्तिगत अस्तित्व का नाम है, और न ही उसका सर्वव्याप्त अस्तित्व है जो चारों जगतों के छोटे बड़े अस्तित्वों में समाया हुआ है। नेचर तो केवल छोटे-बड़े अस्तित्वों के जोड़ का नाम है।

स्पष्ट है कि नेचर या प्रकृति और ईश्वर में कोई समानता नहीं। ईश्वर की कोई भी परिभाषा क्यों न हो उसे केवल जोड़ रूप में नहीं माना जाता। उसे अनुभवों का केन्द्र (Centre of experiencing) अवश्य माना जाता है। प्रकृति या नेचर जोड़ रूप में ही मानी जाती है, चाहे इस जोड़ के अस्तित्वों में कितना भी घनिष्ट सम्बन्ध क्यों न हो। प्रकृति या नेचर का कोई व्यक्तिगत अनुभव केन्द्र (Centre of experiencing) नहीं।

कई ईश्वरवादी नेचर और ईश्वर की भिन्नता मिटाने के लिए कहते हैं कि सब ईश्वर ही ईश्वर है। इस वाद को सर्वेश्वरवाद कहते हैं। इस वाद के अनुसार नेचर और ईश्वर अलग-अलग स्थित नहीं है। नेचर का आंतरिक पक्ष ईश्वर है और ईश्वर का बाह्य पक्ष नेचर है। इसलिए नेचर एक इकाई है जिसका अनुभव केन्द्र है। इसलिए नेचर और ईश्वर की भिन्नता दोषपूर्ण है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना यथेष्ट है कि नेचर और ईश्वर को एक स्थित करने से इनकी भिन्नता मिट नहीं जाती। इनके अर्थ तो भिन्न ही रहते हैं। इस वाद के अनुसार विश्व के दो पक्ष हैं–(१) बाह्य और (२) आन्तरिक। बाह्य पक्ष नेचर है और आन्तरिक पक्ष ईश्वर है। जब दो पक्ष हैं तो इनकी भिन्नता है, इकाई नहीं। यदि इन दो पक्षों की इकाई नहीं तो नेचर और ईश्वर का एक अर्थ क्योंकर हो सकता है? दूसरा प्रकृतिवादियों के लिए नेचर उन सब अस्तित्वों के जोड़ का नाम है जिनकी वैज्ञानिक विधियों से खोज हो सकती है। एक असीमित चेतना वाले ईश्वर की किसी वैज्ञानिक विधि द्वारा जांच नहीं हो सकती। इसलिए उसे नेचर का अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

(ii) नेचर में जितने भी अस्तित्व हैं वे भौतिक द्रव्य-ऊर्जा या जड़ शक्ति सम्पन्न हैं। नेचर में कोई ऐसो चेतना नहीं जो शरीर रहित हो। ईश्वर एक चेतन्य शक्ति माना जाता है जो शरीर-रहित है। इस अवस्था में नेचर और ईश्वर का एक अर्थ क्योंकर हो सकता है?

(iii) नेचर में प्रत्येक अस्तित्व प्रतिक्षण परिर्वातित होता रहता है। उसके जड़ तथा शक्ति पक्ष दोनों ही परिर्वातित होते रहते हैं। मनुष्य का आत्मा और शरीर दोनों ही परिवर्तनशील हैं। वे क्षण-भर भी अपरिर्वातित नहीं रह सकते। इसलिए नेचर पूर्ण रूप से प्रतिक्षण बदल रही है। ईश्वर परिवर्तन से ऊपर माना जाता है। परिवर्तन अपूर्णता का लक्षण है। परिवर्तन का अर्थ है ऐसी अवस्था में प्रवेश करना जो पहले न थी। यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसमें परिवर्तन का अर्थ यह होगा कि या तो अधिक पूर्ण हो जायेगा या वह पतित हो जायेगा। जो पूर्ण है वह अधिक पूर्ण कैसे हो सकता है? ये बात परस्पर विरोधात्मक है। यदि पूर्ण अस्तित्व परिवर्तन द्वारा और पूर्ण होता है तो

उसका अर्थ यह है कि वह पूर्ण न था। पूर्ण अस्तित्व का अधिक पूर्ण होना निरर्थक विचार है। यदि ईश्वर परिवर्तन द्वारा पतित होता है तो वह पूर्ण नहीं रहता। यदि ईश्वर या परमात्मा है और उसकी परिभाषा पूर्णतः है तो वह परिवर्तन से ऊपर होगा। परिवर्तनशील नेचर और परिवर्तन रहित ईश्वर एकार्थक क्योंकर हो सकते हैं?

(iv) नेचर के सब अस्तित्व नियमबद्ध हैं और वे इन नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते। ईश्वर नियमबद्ध नहीं। वह अपनी इच्छा से संचालित है। वह पूर्ण स्वतन्त्र मन-मानी करता है। वह नेचर या प्रकृति के नियमों को अपने भक्तों द्वारा तोड़ सकता है और इस प्रकार चमत्कार करवाता है। उसकी सर्व-शक्ति उसे किसी भौतिक नियम के आधीन नहीं रखती। उसकी इच्छा नीति-नियमों के आधीन नहीं। क्योंकि नीति-नियम उसके मन-की मौज के प्रकाश हैं। जो वह चाहे वही नीति-नियम हैं। इसलिए नीति-नियम उसकी इच्छा को नहीं बांधते। इसके विपरीत नेचर या प्रकृति नियमबद्ध है। स्पष्ट है नेचर या ईश्वर एक अर्थ क्योंकर हो सकते हैं।

(v) वैज्ञानिक दृष्टि से इस पृथ्वी को छोड़कर किसी और ग्रह पर अब तक जीवधारी अस्तित्वों का कोई प्रमाण नहीं। इस पृथ्वी पर भी अजीवित अस्तित्व जीवित अस्तित्वों से कहीं बढ़-चढ़कर हैं। प्रकृति या नेचर में अजीवित ही अजीवित शक्तियां हैं और इसकी तुलना में जीवित शक्तियां नाम मात्र हैं। ईश्वरवादी ईश्वर को पूर्ण चैतन्य शक्ति मानते हैं जबकि प्रकृति या नेचर मूल रूप से अजीवित शक्तियों से भरा हुआ है।

कुछ विचारकों का कहना है कि अजीवित अस्तित्वों का भी चेतना पक्ष है। नेचर में कोई अस्तित्व नहीं जो चेतना रहित हो। इसे सर्वचेतनावादी कहते हैं। ये सर्वचेतनावादी विचारक मानते हैं कि विश्व के पदार्थ पृथक-पृथक अस्तित्व रखते हैं और इनके अपने-अपने मानसिक अनुभव केन्द्र हैं। वे यह भी मानते हैं कि सब अस्तित्वों की चेतना एक समान नहीं। मनुष्य की विकसित चेतना पशुओं में नहीं। कुछ श्रेणी के पशुओं की चेतना पौधों में नहीं। पौधों की अनुभवशीलता मिट्टी और राख में नहीं। सर्वचेतनावाद का दोष यह है कि इसके पोषक

चेतना का अर्थ नहीं बता सकते जब वे कहते हैं कि मिट्टी और राख में भी चेतना है। चेतना के जिन अर्थों का हमें अनुभव है उसमें मिट्टी और राख को चेतन्य समझना स्पष्ट मिथ्या है। इन्हें चेतन्य कहना समझ को अर्थान्तर में डालना है। यदि मान भी लिया जाय कि सब अस्तित्वों में चेतना है तो भी नेचर और ईश्वर एक नहीं। ईश्वर वह चेतना है जो सर्वज्ञ है। नेचर में पृथक्-पृथक् अस्तित्व हैं और कोई चेतना भी सर्वज्ञ नहीं। नेचर में मूर्ख की चेतना है, मिथ्याचारी की चेतना है, गधे की जड़ चेतना है। और ये सब चेतनाएं एक चेतना नहीं। और यदि ये सब चेतनाएं एक अनुभव के केन्द्र भी बन जाएं तो उसे सर्वज्ञ नहीं कह सकते। इसलिए नेचर और ईश्वर का अर्थ एक क्योंकर हो सकता है ? यह सत्य ज्ञान की मांग है कि नेचर और ईश्वर की भिन्नता को बनाये रखें।

(vi) नेचर में कोई अस्तित्व नहीं जो सर्वशक्तिमान हो। प्रकृति या नेचर में ऐसे पृथक-पृथक अस्तित्व हैं जो सीमित शक्ति रखते हैं। ये पृथक अस्तित्व इसलिए हैं क्योंकि पृथक शक्तियां रखते हैं। शक्ति द्वारा ही कोई अस्तित्व अपना व्यक्तिगत अस्तित्व रख सकता है। इन सब अस्तित्वों की शक्तियां व्यक्तिगत रूप से सर्वशक्तिमान नहीं। ये शक्तियां एक दूसरे का विरोध भी करती हैं और इस प्रकार एक दूसरे को सीमित करती हैं।

जंगल में पशुओं को लीजिए। आपको जीव-विज्ञान बताएगा कि किस प्रकार पशु जातियाँ एक दूसरे को चीर-फाड़ कर खाने और नष्ट करने पर तुली हुई हैं। हम दैनिक-जीवन में भी यही अनमेल का नाटक देखते हैं कि किस प्रकार छिपकली दीपक पर आए हुए कीड़ों को झपट-झपट कर खाती है या बिल्ली चूहे पर कूद कर पड़ती है और उसे बेदर्दी से मार कर खाती है, आदि-आदि। मनुष्य जाति को लीजिए। सामाजिक जीवन में परस्पर झगड़ों-फसादों और युद्धों की भरमार है। आज मनुष्य जाति इस भय में है कि वह विश्व युद्ध द्वारा अपना सर्वनाश न कर ले। प्रकृति में जीवित और अजीवित शक्तियों का अनमेल है। हम सब जानते हैं कि किस प्रकार बिजली, आँधी, बाढ़, मनुष्यों-पशुओं और पौधों को हानि पहुँचाती हैं और उन्हें मौत के घाट उता-

रती हैं। जब भिन्न अस्तित्वों की शक्तियों में यह अनमेल है तो सब शक्तियाँ एक शक्ति नहीं। परन्तु ईश्वर एक संघर्ष रहित ऐक्य पूर्ण असीमित शक्ति माना जाता है।

यदि ये सब शक्तियाँ मिल कर काम करें तो भी वे एक व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं बन जातीं। मनुष्य समाज तब बनता है जब उसके सदस्य एक प्रकार का सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा एक प्रकार के विचार व भाव रखते हैं। युद्ध के दिनों में यह सामूहिक एकता और भी बढ़ जाती है। परन्तु सामूहिक कार्य **से समूह** एक **व्यक्तिगत मनुष्य नहीं बन जाता**। समूह के सदस्य पृथक-पृथक अपना अनुभव केन्द्र रखते हैं, अपनी-अपनी सीमित शक्ति रखते हैं। इसलिए प्रकृति में कोई सर्वशक्तिमान व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं। ईश्वर को सर्वशक्तिमान पुरुष कहा जाता है। इसलिए नेचर और ईश्वर एक अर्थ नहीं रखते।

(vii) नेचर में कोई सर्वज्ञ नहीं। नेचर के अस्तित्वों में मनुष्य से अधिक कोई ज्ञान नहीं रखता। मनुष्यों में भी कोई मनुष्य नहीं जो सर्वज्ञ हो। और सब मनुष्यों की समझ न एक व्यक्तिगत समझ बन सकती है और न ही यह समझ यदि व्यक्तिगत समझ बन भी जाए तो सर्वज्ञ हो सकती है।

ईश्वर सर्वज्ञ माना जाता है। ऐसी परिभाषा प्रकृति या नेचर पर लागू नहीं।

(viii) नेचर में कोई अस्तित्व नहीं जिसके व्यवहार में कोई ग़लती न होती हो। व्यवहार में त्रुटि से पूर्ण मुक्त होने के लिए सर्वज्ञानी होना ज़रूरी है। सीमित समझ के साथ यह हमेशा जानना सम्भव नहीं कि कौन-सा व्यवहार ठीक है। इसलिए प्रकृति या नेचर में ईश्वर की परिभाषा का सर्वश्रेष्ठ अस्तित्व नहीं पाया जाता। नेचर सर्वश्रेष्ठ नहीं। यह अस्तित्वों का जोड़ है और यह अस्तित्व अच्छे और बुरे दोनों व्यवहार प्रदर्शित करते हैं।

इन आठों लक्षणों की भिन्नता के कारण ईश्वर और प्रकृति या नेचर को एक नहीं माना जा सकता और इन्हें अदल-बदल कर एक ही सत्य के अर्थ में प्रयोग नहीं किया जा सकता। ऐसा करना अपनी और दूसरों की समझ को मिथ्या उलझन या भ्रम में डालना है।

: ७ :

ईश्वर की परिभाषा

ईश्वर की क्या परिभाषा है जिसके अस्तित्व के होने या न होने का प्रश्न हमारे सामने है ? ईश्वर के सम्बन्ध में कितनी विपरीत परिभाषाएँ हो सकती हैं इसका दृष्टान्त इंगलैंड के दार्शनिक कवि कोलरिज (Coleridge) के जीवन की एक घटना से मिल सकता है। एक बार कवि कोलरिज तथा किसी और भद्र जन की ईश्वर के बारे में बातचीत हुई। बहुत देर तक यह चर्चा चलती रही। जब कोई सफ़ल परिणाम न निकला तो कवि कोलरिज ने अपने साथी को कहा कि हमारी असफलता का कारण यह है कि जिसे तुम ईश्वर कहते हो मैं उसे शैतान कहता हूँ। यह बात ईश्वर विश्वास के इतिहास से भी स्पष्ट की जा सकती है। हिन्दुओं के कुछ पूर्वजों ने ऐसे ईश्वर की कल्पना की है जो हमारी पृथ्वी पर कभी मछली की शक्ल में, कभी कछुए की शक्ल में, कभी सूअर की शक्ल में, कभी आधा आदमी और आधा शेर यानी नरसिंह और कभी आदमी के रूप में अभिव्यक्त होता रहा है। आदमी के रूप में वह कुछ समय तक जीवित रहकर, खा-पी, चल-फिर और सो-जागकर मर जाता है और मनुष्य रूप में अपने पीछे बाल-बच्चे भी छोड़ जाता है। कहा जाता है कि कलियुगी रूप में अब वह फिर जन्म लेने वाला है। इस ईश्वर को ईसाई, मुसलमान, ब्रह्म समाजी और आर्य समाज के लोग मिथ्या ईश्वर घोषित करते हैं। फिर एक और हिन्दुओं का समूह है कि जो उपनिषदों के वचनों के अनुसार यह मानता है कि सारा जगत ही ईश्वर है। इस जगत में जो कुछ भी है, ईंट, पत्थर, घास-फूस, गोबर-मिट्टी, सांप-बिछू, पिस्सू-खटमल—वे सब ईश्वर या ब्रह्म के रूप हैं। इस ईश्वर को भी और लोग काल्पनिक मानते हैं। ब्रह्म समाज, आर्यसमाज

और ईसाई लोग ईश्वर को दुनियां का बनाने वाला मानते हैं। इनमें भी भेद है। ईसाई लोग कहते हैं कि ईश्वर ने शून्य से इस दुनियां को रचा परन्तु आर्य समाजियों का कहना है कि जड़ और आत्मा पहले ही थे और ईश्वर ने इनको लेकर दुनियां बनाई। यह ऐतिहासिक वर्णन बताता है कि किस प्रकार ईश्वर के प्रति अलग-अलग अवधारणाएँ हैं और किस प्रकार ईश्वर की एक अवधारणा रखने वाले दूसरों के ईश्वर की अवधारणा को मिथ्या ठहराते हैं अर्थात् लोग एक दूसरे के ईश्वर के अस्वित्व को मिथ्या बताते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर की दो परिभाषाएँ मुख्य हैं :—

(i) बहुत विचारक ईश्वर को मनुष्य के रूप में परिभाषित करते हैं। ईश्वर को एक पुरुष (Personal God) समझते हैं, जैसे हममें से हर एक पुरुष है। उसे वही गुण देते हैं जो मनुष्यों में हैं। हममें सीमित शक्ति, सीमित समझ और सीमित अच्छाई है। ईश्वर की अवधारणा में ये सीमायें हटा दी जाती हैं और उसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। ईश्वर के सम्बन्ध में ये शब्द जैसे 'पुरुष' 'शक्ति' 'समझ' और 'श्रेष्ठता' वही अर्थ रखते हैं जो हम दैनिक जीवन में समझते हैं। कई विचारकों का कहना है क्योंकि ईश्वर में ये गुण असीमित रूप में हैं इसलिए वह नए प्रकार के गुण बन जाते हैं और वे इतने उत्तम हैं कि ईश्वर मनुष्य से पूर्णतः भिन्न है। पर जब ये विचारक वादविवाद के स्तर पर न हों तो ईश्वर को मनुष्य रूप में ही समझते हैं जो ऋषियों, मुनियों या पैगम्बरों को आदेश देता है। ऐसे ईश्वर के विचार या अवधारणा को मानवीय अवधारणा (Anthropological concept) कहते हैं।

(ii) कुछ विचारकों का कहना है कि यदि ईश्वर की इस प्रकार की अवधारणा रची जाये तो निरीश्वरवादियों का कहना ठीक होगा कि ऐसे अस्तित्व का प्रमाण होना चाहिए। यदि ईश्वर अस्तित्वों में से एक अस्तित्व है, चाहे उसके गुण कुछ भी क्यों न हों, तो उसके होने का प्रमाण वही होगा जो किसी और अस्तित्व का होता है। उनका कहना है कि मानवीय रूप में ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता। इनके विचार में ईश्वर कोई व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं है। वह सब अस्तित्वों का

आधार है। इस ईश्वर के गुणों में मनुष्य के गुणों से कोई समानता नहीं। मनुष्य का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ गुण भी ईश्वर पर शाब्दिक रूप से लागू नहीं है। सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वश्रेष्ठ के शब्दों का ईश्वर के साथ प्रयोग किया जाता है परन्तु ये गुण केवल रूपक, प्रतीक, लक्ष्यार्थ तथा सादृश्य रूप में ही समझने चाहिए। शंकराचार्य इससे भी आगे जाते हैं और उनका कहना है कि ये दोनों दार्शनिक विचार अविद्या अवस्था के द्योतक हैं। वास्तव में 'शुद्ध चेतना' ही ईश्वर है। इसलिए उन्होंने ईश्वर के शब्द के स्थान पर ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया है।

मोटे तौर पर ईश्वर की ये दो परिभाषायें सगुण और निर्गुण ब्रह्म की परिभाषाओं से मिलती हैं। निरीश्वरवादी देवधर्मी, बुद्ध, जैन, सांख्य और मीमांसा दर्शन के अनुयायी ईश्वर और ब्रह्म दोनों को ही नहीं मानते।

जब हम यह कहते हैं कि ये दर्शन ईश्वर या ब्रह्म को नहीं मानते तो इसका क्या अर्थ है ? कुछ विचारक हैं जो यह कहते हैं कि हम न तो ये मानते हैं कि ईश्वर या ब्रह्म है और न ही हम ये मानते हैं कि ईश्वर या ब्रह्म नहीं। ऐसे विचारक न ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और न अस्वीकार करते हैं। इन्हें अज्ञेयवादी (Agnostics) कहते हैं। इनके अनुसार ईश्वर मनुष्य की समझ से बाहर का विषय है। परन्तु जिन दर्शनों का हमने ऊपर वर्णन किया है उनके अनुयायी भावपूर्वक कहते हैं कि ईश्वर या ब्रह्म की परिभाषा का कोई अस्तित्व नहीं और इसलिए ऐसा विश्वास मिथ्या है।

: ८ :

जगत-कारण-युक्ति

हमने ईश्वर की अवधारणा को नेचर या प्रकृति की अवधारणा से पृथक किया है और दिखाया है कि ईश्वर में विश्वास और नेचर या प्रकृति में विश्वास एक रूप नहीं। यह कहना ग़लत है कि जिसे निरीश्वरवादी नेचर या प्रकृति कहते हैं वह ईश्वर का दूसरा नाम है। हमने ईश्वर की परिभाषा पर भी चर्चा की है और ईश्वरमीमांसा में दो मुख्य परिभाषाओं को स्पष्ट किया है। अब हमारा रास्ता साफ़ है। अब हमने यह देखना है कि निरीश्वरवादी ईश्वर विश्वास को **क्यों** त्याग करते हैं। निरीश्वरवादी ईश्वर के विश्वास को दो कारणों से नहीं मानते—

(i) ईश्वर विश्वास के पक्ष में जो युक्तियां दी गई हैं वे सब खण्डन योग्य हैं। वे ईश्वर को सिद्ध करने में असफल हैं।

(ii) ईश्वर की परिभाषा विश्व के अस्तित्वों और घटनाओं के स्वभाव के विरुद्ध है और इसलिए इस परिभाषा का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियां मुख्य हैं—

(i) जगत-कारण-युक्ति (Cosmological Argument)।

(ii) अभिकल्प-युक्ति या आयोजन-युक्ति (Argument from Design)।

(iii) प्रत्यय-सत्ता-युक्ति (Ontological Argument)।

(iv) नीतिपरक-युक्ति (Moral Argument)।

(v) धर्म तथा रहस्य अनुभव द्वारा ईश्वर की सिद्धि (Argument from Religious or Mystic experience)।

हम इन युक्तियों का एक-एक करके अध्ययन करेंगे। जगत-कारण युक्ति का अर्थ है कि जगत के अस्तित्वों और घटनाओं का ऐसा स्वभाव है कि इसका रचयिता या सृष्टा मानने के बिना उनका संतोषजनक वर्णन नहीं हो सकता। जगत की घटनाओं का क्या स्वभाव है ? जगत में अस्तित्व और घटनायें एक विशेष काल में आरम्भ होती हैं और विशेष काल में लुप्त हो ज़ाती हैं। हरएक घटना पहले की घटनाओं पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ मेरा जन्म मेरे माता-पिता के कारण हुआ। मेरे माता-पिता का जन्म उनके माता-पिता के कारण हुआ। ये घटनाओं की न ख़त्म होने वाली लड़ी है। जगत का कोई अस्तित्व या घटना अपना कारण स्वयं नहीं। वह दूसरी ऐसी घटनाओं पर निर्भर करती है, जो स्वयं दूसरों पर निर्भर करती हैं। जगत या विश्व अस्तित्व और घटनाओं के न ख़त्म होने वाली कार्य-कारण के सम्बन्ध में जुड़ी हुई लड़ियों का नाम है।

ईश्वरवादी इन तथ्यों से ये परिणाम निकालते हैं—जब एक घटना का कारण उससे पहले की घटनाएं है तो स्पष्ट हुआ कि जिस घटना से हमने आरम्भ किया उसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। इसलिए हमें ऐसे आदि अस्तित्व को मानना पड़ेगा जो स्वयं इस विश्व की घटना न हो और वह ईश्वर है। ईश्वर घटनाओं का आदिकारण है जो स्वयं में इस लड़ी का कोई मोती नहीं। इस युक्ति को आदि-कारण युक्ति (First Cause Argument) कहते हैं।

ईश्वरवादी इससे भी आगे जाते हैं। वे कहते हैं कि वर्षा का कारण सूर्य की गर्मी से पानी का बादल बन जाना और ठण्डे स्थान पर पहुंचकर घनीभूत होकर गिरना है। इसी प्रकार आक्सीजन और हाइड्रोजन के मिल जाने से पानी बन जाता है। यदि पृथक-पृथक घटनाओं का वर्णन अन्य घटनाओं में है तो इन **सम्पूर्ण** या सब घटनाओं की लड़ियों का कारण जड़ और अजीवित शक्तियां हैं। इसी प्रकार विश्व में प्रत्येक घटना का वर्णन दूसरी कुछ घटनाओं में है। परन्तु नेचर की **सम्पूर्ण घटनाओं** का वर्णन इन सम्पूर्ण घटनाओं से बाहर होगा और वह ईश्वर है।

१

यह जानने के लिए कि यह युक्ति ठीक है या नहीं हमें **कार्य-कारण के नियम** को समझना चाहिए जिस पर यह युक्ति **आधारित** है। **अनुभव** हमें बताता है कि कार्य और कारण दोनों ही काल के आधीन हैं। कार्य के रूप में मेरा जन्म विशेष समय में हुआ। मेरे जन्म का कारण मेरे माता-पिता हैं। कारण होते हुए भी मेरे माता-पिता भी एक विशेष समय में जन्म को प्राप्त हुए थे। हमारे **अनुभव** में कोई कारण नहीं जो स्वयं **घटित** न होता हो, अर्थात् काल कार्य-कारण नियम का अवच्छिन्न पक्ष है। ऐसा ईश्वरवादी भी मानते हैं और इसी तथ्य को अपनी युक्ति का आधार बनाते हैं। पर जब कार्य-कारण दोनों घटित होते है तो **इस नियम** के आधार पर हम किसी ऐसे अकारण ईश्वर का अनुमान नहीं कर सकते जो स्वयं घटित न होता हो। हमारा **अनुभव** ऐसे कारण (अर्थात् ईश्वर) के अनुमान करने की आज्ञा नहीं देता जो स्वयं घटित न हो। इंगलैंड के आधुनिक तर्कशास्त्री जे० एस० मिल (J. S. Mill) का कहना है कि हमारा अनुभव यह है कि कार्य-कारण दोनों विशेष काल में आरम्भ होते हैं और दोनों घटित होते हैं। हमारा अनुभव ईश्वर को सिद्ध करने के स्थान पर उसका खण्डन करता है। हमारा अनुभव ईश्वर विश्वास का खण्डन इसलिए करता है क्योंकि ईश्वर वह कारण माना जाता है जो स्वयं घटित न होता हो और ऐसे कारण का हमें कोई अनुभव नहीं है जो स्वयं घटित न होता हो।

हम ईश्वरवादियों से कहते हैं कि जब कार्य-कारण का नियम यह बताता है कि कोई कारण नहीं जो स्वयं घटित न होता हो तो उनका यह अनुमान कि घटनाओं का आदिकारण है इस नियम पर आधारित नहीं। यदि आदिकारण का अनुमान इस नियम पर आधारित नहीं तो किस पर आधारित है ?

२

ईश्वरवादी कहते हैं "हमने माना कि हमारे अनुभवों से कोई साक्षी नहीं मिलती कि आदि कारण है। हम मानते हैं कि विज्ञान जिन

घटनाओं का अध्ययन करता है उसमें उसे कोई आदिकारण नहीं मिला जिसे ईश्वर कहा जाये। वास्तव में हमारी ही यह दलील भी है कि दैनिक अनुभवों में हम देखते हैं कि कोई कारण नहीं जो घटित न होता हो और इसीलिए हमने आदिकारण का विचार अपनाया है। परन्तु आखिरकार घटनाओं की लड़ी का कोई कारण तो होना ही चाहिए अन्यथा विश्व समझ की चीज़ नहीं रहती। अनुभव कुछ भी कहता हो, हमारा अनुभव निरपेक्ष समझ (Apriori reasoning) भी तो कोई चीज़ है। हमारी अनुभव निरपेक्ष समझ की मांग है कि अन्त में घटनाओं का आदिकारण होना चाहिए। जब हम आदिकारण या ईश्वर को मान लेते हैं तो हमारी समझ सन्तुष्ट हो जाती है। कार्य-कारण केवल अनुभव का ही नियम नहीं हमारी अनुभव निरपेक्ष समझ का नियम भी है। इस समझ की दृष्टि से घटनाओं की लड़ी का आदि कारण होना चाहिए। इसके बिना समझ घटनाओं का संतोषजनक वर्णन नहीं पाती।"

हम ईश्वरवादियों से पूछते हैं कि आपकी यह समझ ईश्वर पर क्यों रुक जाती है ? आपकी समझ यह क्यों नहीं पूछती कि ईश्वर का क्या कारण है ? जब हर एक अस्तित्व का कारण है तो ईश्वर के अस्तित्व का भी कारण होना चाहिए। ईश्वर के अस्तित्व का कारण उससे पहले का ईश्वर होगा और उससे पहले ईश्वर का कारण उससे पहले का कोई ईश्वर होगा। विश्व की घटनाओं की न ख़त्म होने वाली लड़ियों की न्याई इस तत्वमीमांसा जगत में ईश्वरों की लड़ियां पाई जायेंगी। ईश्वर घटनाओं का वर्णन होने के स्थान पर स्वयं न ख़त्म होने वाली लड़ियों के चक्कर में पड़ जायेगा। स्पष्ट है कि जिस उद्देश्य को लेकर ईश्वर की प्राक्कल्पना की गई थी वह केवल असफ़ल ही नहीं हुआ परन्तु उससे हमारी समस्याएं दुगुनी हो गईं। अब हमने न ख़त्म होने वाली घटनाओं का ही वर्णन नहीं करना, न ख़त्म होने वाली ईश्वर की लड़ी का भी वर्णन करना है।

कार्य-कारण के नियम के आधार पर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। विश्व प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काँट का कहना है कि जब मनुष्य घटनाओं का कारण खोजता है तो इन कारणों की लड़ियों

में जब खोजते-खोजते थक जाता है तो वहां ईश्वर को ले आता है। ईश्वर विश्वास मनुष्य की मानसिक थकान का चिह्न है, उसकी समझ की ज्योतिर्मानता का नहीं।

३

जब हम कहते हैं कि घटनाओं की लड़ी का कोई आरम्भ नहीं, कोई आदिकारण नहीं, ईश्वरवादी हम पर आरोप लगाते हैं कि हम कार्य-कारण के नियम को भंग कर रहे हैं और नासमझी को समझ जता रहे हैं। हमारा उत्तर यह है कि कार्य-कारण के नियम को हम पूर्ण रूप से अपना रहे हैं। हम कहते हैं कि प्रत्येक घटना का कारण है और इसलिए कोई आदिकारण नहीं हो सकता। परन्तु आप इस नियम को भंग कर रहे हैं जब आप कहते हैं कि ईश्वर का कोई कारण नहीं। पुनः यदि ईश्वर का कोई कारण नहीं तो इसका अर्थ यह हुआ कि **अकारण अस्तित्व** हो सकते हैं। यदि अकारण अस्तित्व हो सकते हैं तो विश्व को अकारण मानने में आपकी समझ को क्या आपत्ति है? यदि ईश्वर अपना कारण आप हो सकता है तो विश्व अपना कारण आप क्यों नहीं हो सकता?

ईश्वरवादी कह सकते हैं कि जब हम कहते हैं कि ईश्वर अपना कारण आप है तो आप हम पर आरोप लगाते हैं कि हम कार्य-कारण का नियम भंग कर रहे हैं। क्या आप इस कार्य-कारण के नियम को भंग नहीं कर रहे जब आप कहते हैं कि विश्व अपना कारण आप है?

हम यह नहीं कहते कि विश्व अपना कारण आप है। वह तो केवल हमारा युक्तिमात्र कथन था। वास्तव में हमारे कथन की व्याख्या यह है—विश्व अस्तित्वों और घटनाओं के जोड़ का नाम है। जोड़ के बारे में यह प्रश्न अर्थरहित है कि इसका क्या कारण है क्योंकि जोड़ कोई अस्तित्व नहीं, कोई घटना नहीं। इस शताब्दी के महान दार्शनिक बर्ट्रेन्ड-रसल इस सत्य का इस प्रकार स्पष्टीकरण करते हैं। हम में से हरएक की माता है परन्तु यह कहना कि मनुष्य जगत की भी कोई माता है या यह कहना कि मनुष्य जगत अपनी मां आप है अर्थरहित बात है। मनुष्य जगत कोई व्यक्ति नहीं जिसके बारे में अर्थपूर्ण ढंग से पूछा जा

सके कि उसका कारण क्या है ? विश्व अस्तित्वों और घटनाओं का समूह है। इसलिए जहां प्रत्येक घटना का कारण पूछना अर्थपूर्ण है वहां विश्व का कारण पूछना अर्थरहित प्रश्न है या यह कहना कि विश्व अपना कारण आप है, अर्थरहित वाक्य है। विश्व के बारे में उसके कारण होने का कोई सवाल नहीं उठ सकता और ऐसा सवाल उठाना शब्दों का उसी प्रकार का जोड़ है जैसे हम पूछें कि सद्‌गुण की कितनी टांगें होती हैं। परन्तु ईश्वर के बारे में यह प्रश्न अर्थपूर्ण है कि उसका कारण क्या है क्योंकि वह **एक व्यक्तिगत अस्तित्व** है और व्यक्तिगत अस्तित्वों का कारण होता है।

४

ईश्वरवादी इस स्थिति से निकलने के लिए दो रास्ते अपनाते हैं। एक यह कि ईश्वर का व्यक्तिगत अस्तित्व तो है परन्तु वह अस्तित्व ऐसा है जिसका स्वभाव अन्य सब अस्तित्वों से भिन्न है। इसलिए जहां किसी अन्य अस्तित्व के बारे में यह सवाल करना आवश्यक है कि उसका कारण क्या है ईश्वर के बारे में यह सवाल उठ ही नहीं सकता।

कुछ विचारों या गुणों का सम्बन्ध ऐसा है कि यदि इसको अस्वीकार किया जाए तो विचार विरोध अवस्था पैदा हो जाती है। यदि मैं कहूं कि 'यह तिकोन द्विकोण है' या 'इस लाल चीज़ का कोई रंग नहीं' तो यह विचार विरोध अवस्था है। ऐसे विचारों के सम्बन्ध को (जैसे 'तिकोण त्रिकोण है' या 'इस लाल चीज़ का 'रंग है' या 'गंजे के बाल नहीं होते) अनिवार्य तार्किक सम्बन्ध कहते हैं। कुछ विचारों या गुणों में सम्बन्ध ऐसा है कि यदि इनको अस्वीकार किया जाए तो **कोई विचार विरोध** अवस्था पैदा नहीं होती। यदि मैं कहूं कि बैंगन सफ़ेद रंग का है' या 'यह चाक हरा है' तो इसमें कोई विचार विरोध नहीं, यद्यपि यह असत्य हो सकता है। यदि जिस बैंगन को मैं सफ़ेद कहूं वह सफ़ेद न हो तो मेरा कथन असत्य है, परन्तु मेरे कथन में विचार विरोध नहीं, क्योंकि बैंगन सफ़ेद भी होते हैं। अनिवार्य सम्बन्धों की यह विशेषता है कि यदि आप उद्देश्य को अभिकथन करें तो विधेय को भी अभिकथन करना होगा। यदि आप ऐसा न करें तो विचार विरोध पैदा हो

जाएगा। यदि कोई चीज़ लाल है तो अनिवार्य रूप से रंग रखती है। यह हो ही नहीं सकता कि कोई चीज़ लाल हो और उसका रंग न हो। परन्तु यह हो सकता है कि यह बैंगन हो किन्तु उसका रंग बैंगनी न हो बल्कि सफेद हो। अतएव दो प्रकार के सम्बन्ध हैं—अनिवार्य सम्बन्ध, जिसमें उद्देश्य और विधेय में तार्किक सम्बन्ध होता है जिसे अस्वीकृत करने से विचार विरोध पैदा होता है। दूसरा आयत्तता युक्त सम्बन्ध है जिसमें उद्देश्य विधेय में ऐसा सम्बन्ध है कि उनके सम्बन्ध को अस्वीकार करने पर कोई विचार विरोध पैदा नहीं होता। विश्व का प्रत्येक अस्तित्व ऐसा है कि उसके गुणों और अस्तित्व में आयत्तता का सम्बन्ध है अर्थात उनके अस्तित्व को अस्वीकार करने में कोई विचार विरोध नहीं ! यदि मैं यह कहूं कि वह अभी मेरे साथ बात कर रहा था, परन्तु एक मिनिट बाद मर गया हैं तो यह बात सत्य हो सकती है। हमारे गुणों और अस्तित्व या 'होने में' कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। हम कल्पना कर सकते हैं कि हमारे कमरे की सब चीज़ें नष्ट हो गई हैं। परन्तु यह तार्किक रूप से असंभव है कि लाल वस्तु का रंग न हो। लाल वस्तु और रंग का सम्बन्ध अनिवार्य है परन्तु हमारे गुणों और हमारे होने या अस्तित्व में आयत्तता का सम्बन्ध है।

परन्तु ईश्वर का अस्तित्व अद्वितीय प्रकार का है। उसकी सत्यता या होना उसके गुणों में से एक गुण है। इसलिए उसके बारे में यह सोचना कि उसकी सत्यता नहीं उसी प्रकार सोचना है जिस प्रकार यह सोचा जाये कि एक तिकोन के तीन कोने नहीं। जैसे यह सोचना विचार विरोध है कि तिकोन के तीन कोने नहीं उसी प्रकार यह सोचना भी विचार विरोध है कि ईश्वर की सत्यता नहीं। दर्शन की भाषा में ईश्वर की सत्यता अनिवार्य (Necessary) है। उसका न होना तार्किक रूप से असम्भव है। ईश्वरवादियों का कहना है क्योंकि विश्व का प्रत्येक अस्तित्व आयत्तता-युक्त है, अर्थात् उसके अस्तित्व का कारण उससे बाहर है इसलिए वर्णन की दृष्टि से ईश्वर का अनिवार्य अस्तित्व मानना अवश्यम्भावी है।

यह युक्ति दोषपूर्ण है। इस युक्ति का दोष यह है कि यह सत्यता या 'होना' को एक पारिभाषिक गुण मानती है जो तार्किक भूल है। इस युक्ति की इस भूल का स्पष्टीकरण दसवें अध्याय करेंगे कि किस प्रकार

ईश्वर का 'अनिवार्य अस्तित्व' (Necessary Being) शब्दों का वह जोड़ है जो अर्थरहित है। किसी भी अस्तित्व को तार्किक रूप से 'अनिवार्य' कहना न 'अनिवार्य' के विचार को समझना है और न 'अस्तित्व' के विचार को समझना है। यदि इन दोनों शब्दों को हम समझें तो हमें पता लगेगा कि 'अनिवार्य अस्तित्व' (Necessary Being) उसी प्रकार अर्थ-रहित है जिस प्रकार वर्ग-वृत्त या बांझ-जननी। इस समय इतना ही कहना यथेष्ट है कि किसी भी अस्तित्व के विषय में चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो, यह कहने में कोई विचार विरोध नहीं कि यह संभव है कि इसका अस्तित्व नहीं रहा। किसी भी विचार के बारे में कहा जा सकता है कि अमुक परिभाषा का कोई अस्तित्व नहीं है चाहे अमुक विचार की परि-भाषा ही ईश्वर क्यों न हो। इसमें कोई विचार विरोध नहीं कि ईश्वर नहीं, जैसे इसमें विचार विरोध है कि लाल वस्तु का कोई रंग नहीं। हां, यदि हम कहें कि ईश्वर नहीं और वह है, तो हमारा कथन असत्य है परन्तु इसमें भी कोई विचार विरोध नहीं। जैसे मैं कहूं कि कमरे मे शेर है, और यदि शेर नहीं तो मेरा कथन असत्य है। परन्तु इसमें विचार विरोध नहीं। अर्थात् ईश्वर और अन्य अस्तित्वों के सम्बन्ध में 'होने' के कथन तार्किक दृष्टि से एक ही स्तर पर हैं। ऐसे कथन असत्य हो सकते हैं। परन्तु इनकी असत्यता विचार विरोधता पर आधारित नहीं। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व अन्य अस्तित्वों की अपेक्षा तार्किक दृष्टि से अद्वितीय नहीं।

स्पष्ट है कि ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य नहीं और इसीलिए ईश्वरवादी इस युक्ति से इस प्रश्न को अनुचित नहीं कह सकते कि ईश्वर का अन्य अस्तित्वों की न्याईं कारण होना चाहिए।

५

कई धर्म-दार्शनिक इस परिस्थिति से अपने आपको निकालने के लिए दूसरा पथ अपनाते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर कोई अस्तित्व नहीं परन्तु वह सब अस्तित्वों का आधार है (He is Being of beings)। अब 'आधार' का क्या अर्थ है ? साधारणतः धरती मेरे मकान का आधार है। यदि धरती न हो तो मकान खड़ा नहीं रह सकता। इस

भौतिक अर्थ में ईश्वर इस विश्व का आधार नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर एक चेतना ही चेतना है। यह वाक्य अर्थरहित है कि भौतिक जगत का आधार ईश्वरीय चेतना है। भौतिक वस्तुओं का आधार भौतिक ही हो सकता है। चेतना किसी भी अर्थ में भौतिक अस्तित्वों की आधार नहीं हो सकती।

आधार का अर्थ कारण भी हो सकता है जैसे हमने पहले उदाहरण दिया है कि भोजन रक्त का आधार है। भोजन विशेष विधि द्वारा रक्त बन जाता है। ईश्वर इस कार्य-कारण के अर्थ में आधार नहीं क्योंकि जैसे हम पहले बता चुके हैं कार्य-कारण दोनों ही घटित होते हैं और ईश्वर तो घटित नहीं होता।

आधार का तीसरा अर्थ तार्किक है। यदि मैं यह कहूं कि तांबा गर्मी में फैलता है तो इसका तार्किक आधार यह है कि सब धातुएं गर्मी में फैलती हैं और तांबा धातु है इसलिए तांबा फैलता है। इस तार्किक अर्थ में ईश्वर विश्व का आधार नहीं। विश्व घटनाओं की लड़ियों का समूह है और इसीलिए कालबद्ध है। काल से बाहर ईश्वर, काल में बद्ध विश्व का आधार क्योंकर हो सकता है ? काल से बाहर ईश्वर से ऐसे अस्तित्वों का तार्किक अनुमान निकाला जा सकता है जो काल से बाहर हों परन्तु ऐसे अस्तित्वों और घटनाओं का अनुमान नहीं निकाला जा सकता जो विशेष काल में आरम्भ और लुप्त होते हों। काल में स्थित अस्तित्व ही काल में अन्य अस्तित्वों का कारण हो सकते हैं। काल से बाहर अस्तित्व काल में किसी अस्तितव का कारण नहीं हो सकते। अन्यथा वह खुद काल के चक्र में पड़ जायेंगे। यदि ईश्वर ने इस पृथ्वी को एक विशेष समय में बनाया तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह खुद काल के चक्र में आ गया।

स्पष्ट है कि कोई अर्थ नहीं जिसमें ईश्वर सब अस्तित्वों का अस्तित्व माना जाये। यदि ईश्वर विश्व का तार्किक अर्थ में आधार है तो कालबद्ध विश्व मिथ्या रह जाता है। कुछ सिद्धान्त दर्शक जैसे स्पिनोज़ा (Spinoza), विश्व में कालबद्ध घटनाओं को अस्वीकार करते हैं। वह विश्व के अस्तित्वों को कालरहित बताते हैं। विश्व के सम्बन्ध में ऐसे सिद्धान्त को दैनिक तथ्य जूठा साबित करते हैं। यदि हमें

कालबद्ध विश्व और ईश्वर में चुनाव करना हो तो ईश्वर को रद्द करेंगे। हम अपने दैनिक जीवन की कालबद्ध घटनाओं को होशहवास रखते हुए अस्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए हम ईश्वर को अस्तित्वों का अस्तित्व (Being of beings) नहीं मान सकते।

६

न आरम्भ होने वाली और न समाप्त होने वाली घटनाओं की लड़ी या घटनाओं की असीमित लड़ी या नेचर या प्रकृति को मानने में ईश्वरवादियों को क्या आपत्ति है? ईसाई धर्म के एक महान दार्शनिक सेंट टामस एक्वाइनस (St. Thomas Acquinas) का कहना है कि यदि घटनाओं की लड़ियों को कार्य-कारण की लड़ी मान लिया जाये तो इसका आवश्यक परिणाम यह होगा कि विश्व में कोई अस्तित्व न रहेगा। परन्तु विश्व में अनगिनित अस्तित्व हैं। इसका अर्थ यह है कि असीमित घटनाओं की लड़ी का वाद मिथ्या है। एक्वाइनस की इस युक्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हम घटनाओं की लड़ी को इस प्रकार प्रतीकों में प्रस्तुत करते हैं—

क ख..................श ष स ह। मान लीजिए 'ह' का अर्थ वर्तमान की कार्य-घटना है। इसका कारण 'स' है और 'स' का कारण 'ष' है इत्यादि। अब ठोस दृष्टांत लीजिए। इन्दिरा गांधी का आंशिक कारण उनके पिता जवाहरलाल जी थे और जवाहरलाल जी के आंशिक कारण उनके पिता मोतीलाल जी थे। यदि हम कारण को हटा लें तो कार्य नहीं होता। यदि जवाहरलाल जी न होते तो इन्दिराजी न होतीं। यदि मोतीलालजी न होते तो न जवाहरलाल जी होते और न इन्दिरा जी होतीं। इस प्रकार यदि पहला कारण न हो तो उसके मध्य के कार्य-कारण नहीं हो सकते और इसलिए अब के कार्य-कारण नहीं हो सकते। सेंट टामस एक्वाइनस के अनुसार घटनाओं को असीमित लड़ी मानने वाले पहले कारण को हटा देते हैं क्योंकि यह मानना कि घटनाओं का कोई आरम्भ नहीं, का अर्थ यह है कि कोई पहला कारण नहीं। यदि पहला या आदि कारण न हो तो मध्य के कार्य-कारण नहीं होंगे और इसके फलस्वरूप इस समय कोई घटना न हो पायेगी और विश्व शून्य

का नाम हो जायेगा। परन्तु विश्व शून्य का नाम नहीं है इसलिए असीमित घटनाओं का वाद मिथ्या है। हमें आदि कारण को मानना ही पड़ेगा।

एक्वाइनस की इस युक्ति के साथ हमारा मतभेद है। उनकी युक्ति का आधार घटनाओं की असीमित लड़ी के अर्थ को न समझना है। उन्होंने यह परख नहीं की कि यह कहना एक बात है कि 'क' का अस्तित्व नहीं और यह कहना दूसरी बात है कि 'क' अकारण है। मान लीजिए कि कोई कहता है कि न्यूटन जैसा कोई भौतिक वैज्ञानिक नहीं है। हम कह सकते हैं कि यह ग़लत है कि न्यूटन से बड़ा कोई भौतिक वैज्ञानिक नहीं हुआ। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम यह कह रहे हैं कि न्यूटन का अस्तित्व ही नहीं हुआ। हम न्यूटन के अस्तित्व को तो मान रहे हैं परन्तु उसके दूसरे गुण नहीं मान रहे अर्थात् 'उन जैसा कोई भौतिक वैज्ञानिक नहीं हुआ'। किसी चीज़ के किसी विशेष गुण को अनुपस्थित कहना उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना नहीं है। हम न्यूटन के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर रहे परन्तु उनके वर्णन में जो यह गुण बताया जा रहा है, अर्थात् 'उन जैसा वैज्ञानिक नहीं हुआ'। उसके बारे में हम कह रहे हैं कि वह उनमें नहीं है। इसी प्रकार असीमित घटनाओं की लड़ी के मानने वाले किसी कारण से इन्कार नहीं कर रहे परन्तु वह किसी कारण का यह गुण मानने को तैयार नहीं कि वह स्वयं घटित न हुआ हो। कोई कारण नहीं जो पहले कार्य न हो। असीमित घटनाओं की लड़ी के मानने वाले तो किसी भी अस्तित्व या घटना के बारे में कारण से इन्कार नहीं करते। वे तो कार्य-कारण के नियम को सदैव सच मानते हैं। ईश्वरवादी ही इस नियम को भंग करते हैं जब वे कहते हैं कि ईश्वर **अकारण** है।

एक्वाइनस ने कार्य-कारण की असीमित लड़ी के प्रति ऐसी मिथ्या धारणा क्यों की ? उन्होंने असीमित लड़ी का अर्थ ठीक नहीं समझा। उन्होंने यह समझा कि असीमित लड़ी केवल एक बहुत लम्बी लेकिन **सीमित** लड़ी का नाम है। असीमित लड़ी को केवल लम्बी लड़ी नहीं माना जा सकता। लम्बी लड़ी का तो आरम्भ और अन्त दोनों होते हैं परन्तु यह असीमित लड़ी के बारे में सच नहीं। असीमित लड़ी को यदि केवल

लम्बी लड़ी ही समझा जाये तो एक्वाइनस की युक्ति ठीक है। मान लो कि एक दीवार है जिसमें सौ ईंटें हैं। स्पष्ट है कि सौवीं ईंट ९९वीं ईंट पर आधारित है और ९९ वीं ईंट ९८ वीं ईंट पर निर्भर है। इस प्रकार दूसरी ईंट पहली ईंट पर आधारित है। यदि पहली ईंट निकाल दी जाये तो बाकी ईंटें खुद-ब-खुद गिर जायेंगी। और पहली ईंट का आधार धरती है जिसका कोई आधार नहीं। ईश्वरवादी एक्वाइनस इस नमूने पर आदिकारण की युक्ति को प्रस्तुत करते हैं। निरीश्वरवादियों का कहना है कि असीमित लड़ी को इस नमूने पर सोचना असत्य है। असीमित लड़ी की कोई पहली ईंट नहीं जिस पर सारी लड़ी खड़ी हो। असीमित लड़ी का पहला नम्बर कोई नहीं और इसलिए लड़ी में कोई भी घटना क्यों न हो उसका कारण होगा। असीमित लड़ी को मानना किसी भी कारण के अस्तित्व को अस्वीकार करना नहीं। परन्तु उसे आदि का विशेषण देने से इन्कार करना है। ऐसे इन्कार से किसी कारण को हटा लेना नहीं परन्तु उसे अकारण न मानना है।

असीमित लड़ी का अर्थ यह है कि लड़ी में कोई भी घटना क्यों न हो उसका कारण होगा और वह स्वयं घटित होगी चाहे यह घटना लड़ी में कोई भी स्थान रखती हो। इसलिए घटनाओं की लड़ी का ईंटों की कतार की न्याईं किसी पर आधारित होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

७

कुछ ईश्वरवादी कहते हैं, जिनमें से कोपाल्सटन (Copleston) एक हैं, कि ठीक है घटनाओं की लड़ी असीमित है और कोई आदि घटना नहीं। परन्तु यह असीमित लड़ी किसी घटना का वर्णन नहीं, जब तक कि हम इन घटनाओं का वर्णन एक 'अनिवार्य अस्तित्व' अर्थात् ईश्वर में नहीं मानते। वे ईश्वर के 'अनिवार्य अतिस्त्व' का पूर्व वर्णित अर्थ से भिन्न अर्थ देते हैं (देखिये पृष्ठ ४९-५०)। वे कहते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व **तार्किक अर्थ** में अनिवार्य नहीं परन्तु **तत्व मीमांसा** अर्थ में अनिवार्य है। ईश्वर का अस्तित्व नित्य है अर्थात् न उसका आरम्भ हुआ है और न अन्त हो सकता है।

ईश्वरवादियों के इस विचार का आधार उनका वर्णन सिद्धान्त (Theory of Explanation) है। साधारणतः हम किसी घटना का वर्णन उसकी पहले की घटनाओं में समझते हैं। यदि मलेरिया के बुखार का वर्णन करना हो तो जब हम ऐसे मच्छर की जाति की खोज कर लें जिसके काटने से यह बुखार होता है तो हम समझते हैं कि मलेरिया के बुखार का वर्णन हो गया। ठीक है हम आगे सवाल कर सकते हैं, कि मच्छर क्योंकर पैदा होते हैं ? परन्तु इसके उत्तर से मलेरिया बुखार का कोई वर्णन नहीं होता। इसी प्रकार यदि मेरी जेब में पैसे घट जायें और मैं जानना चाहूं कि ये पैसे क्यों कम हो गए तो इस घटना का पूर्ण वर्णन हो जाता है यदि मुझे याद आ जाता है कि मैंने बाजार में क्या खरीदा था। कई घटनाओं का पूर्ण वर्णन उससे पहले की घटनाओं में है। कुछ घटनाओं के वर्णन के लिए हमें दो-तीन कदम पीछे जाना पड़ता है। यदि हमने बालक के शारीरिक लक्षणों का वर्णन करना है तो हमें मां-बाप से पीछे दोनों तरफ की चार पीढ़ियाँ देखनी होंगी। इन पांचों पीढ़ियों और वर्तमान वातावरण को लेकर बालक के शारीरिक गुणों और मानसिक प्रवृत्तियों का वर्णन पूर्ण होगा। ठीक है पहली पांच पीढ़ियों के कारण उनसे और पीछे की पीढ़ियां हैं। परन्तु उनका वर्णन वर्तमान बालक के वर्णन में कोई बढ़ोत्तरी नहीं करता। यह स्पष्ट है कि किसी घटना का पूर्ण वर्णन उससे तुरन्त पहले या कुछ पहले की घटनाएं हैं। किसी घटना का वर्णन करना उसी प्रकार की कुछ अन्य घटनाओं से उसे सम्बन्ध ढूंढ़ पाना है। ईश्वरवादियों का वर्णन सिद्धान्त इससे भिन्न है। उनका कहना है घटनाओं का ऐसा वर्णन संतोषजनक नहीं, चाहे हम इसे असीमित तक ही क्यों न खींच ले जाएं **जब तक हम उसे अनिवार्य अस्तित्वों के साथ नहीं जोड़ते**। इस वर्णन सिद्धान्त के लिए ईश्वरवादी कोई आधार नहीं बताते। कोई युक्ति नहीं देते। जब तक वे अपने वर्णन सिद्धान्त को सिद्ध नहीं करते तब तक उनका यह कहना कि घटनाओं का वर्णन दूसरी घटनाओं में संतोषजनक नहीं, आधाररहित है।

आइये ज़रा ईश्वरवादियों के वर्णन सिद्धांत को परखें। साधारण वर्णन के अनुसार वर्तमान बालक के शारीरिक गुणों का वर्णन उसके

माता-पिता और चार पूर्वजों तथा वर्तमान वातावरण द्वारा हो जाता है। ईश्वरवादियों की दृष्टि से यह संतोषजनक नहीं। वे कहते हैं कि पहले मनुष्य का कारण ईश्वर था। अब यह तो समझ में आता है कि वर्तमान बालक के आंशिक कारण माता-पिता किस प्रकार हैं। जीव-विज्ञान इस बात को स्पष्ट करता है कि किस प्रकार सैक्स सैल्स या लिंगीकोषों के मिलने से नया जीवन बनता है और इन सैलों के आन्तरिक तत्वों तथा जीन (Gene) से बालक के शारीरिक और मानसिक गुण निश्चित होते हैं। अब हमें समझाइये कि ईश्वर ने जब पहले मनुष्य को पैदा किया तो क्या ईश्वर के पैदा करने की विधि वही थी जो माता-पिता की होती है। यदि नहीं, तो इस वाक्य में 'ईश्वर ने मनुष्य को पैदा किया', 'पैदा' का क्या अर्थ है। फिर क्या ईश्वर ने पहले मनुष्य को उसी प्रकार पैदा किया या बनाया जिस प्रकार कुम्हार एक घड़ा बनाता है ? यदि ईश्वर ने मनुष्य को उसी विधि से बनाया जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है तो ईश्वर का शरीर होना चाहिए। परन्तु ईश्वर को तो आप शरीर-रहित मानते हैं। आप 'पैदा' या 'बनाने' का कोई भी अर्थ लें, तो यह कहना कि ईश्वर ने मनुष्य को बनाया या पैदा किया अर्थ रहित होगा। ईश्वर को आदिकारण मानने से घटनाओं का वर्णन नहीं होता, वर्णन ठप हो जाता है।

८

हमने सिद्ध किया कि जगत-कारण-युक्ति दोषपूर्ण है। यह युक्ति कार्य-कारण के नियम पर आधारित है परन्तु कार्य-कारण का नियम और आदिकारण का विचार परस्पर विरोधी विचार हैं। यदि हर एक अस्तित्व या घटना का कारण है तो कोई आदि अस्तित्व या घटना नहीं हो सकती और इसलिए ईश्वर का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। पुनः ईश्वर विश्व का कारण या तार्किक रूप से आधार नहीं हो सकता।

यदि इस जगत-कारण या आदि या आधार कारण युक्ति को ठीक भी मान लिया जाये तो इससे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

(क) आदिकारण को सिद्ध करना एक बात है और यह सिद्ध करना कि आदिकारण चैतन्य ईश्वर है बिल्कुल और बात है। कई दार्शनिक

आदिकारण को मानते हैं परन्तु इनके लिए आदिकारण परमाणु और गति (Atom and motion) हैं। ईश्वरवादी स्वयं मानते हैं कि इस युक्ति से ईश्वर की स्थापना नहीं होती। उनके अनुसार यह युक्ति ईश्वर को सिद्ध करने का केवल मात्र प्रथम चरण है। स्पष्ट है कि यह युक्ति चैतन्य ईश्वर को सिद्ध नहीं करती क्योंकि यह युक्ति जड़वाद के साथ उतनी ही संगत है जितनी ईश्वरवाद के साथ।

(ख) मान लीजिए कि यह युक्ति यह सिद्ध करती है कि न समाप्त होने वाली घटनाओं की लड़ी का आरम्भ होता है परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आरम्भक कारण अब भी है। हमारा अनुभव है कि कारण की समाप्ति पर भी कार्य रहता है। मेरे माता-पिता मेरे कारण हैं। मैं अब भी जीवित हूं जब कि उन दोनों की ही मृत्यु हो चुकी है। ईश्वर यदि विश्व का पहला कारण भी मान लिया जाए तो संभव है कि ईश्वर नष्ट हो चुका हो। जब इस युक्ति का आधार कार्य-कारण है तो इस नियम के लक्षणों से यह युक्ति नहीं बच सकती।

(ग) यदि यह मान लिया जाय कि प्रत्येक घटना की लड़ी का आदि-कारण है तो इससे यह नहीं सिद्ध होता कि सब घटनाओं की लड़ियों का आदिकारण एक है। एक भवन को कई लोग मिलकर बनाते हैं। कुछ लोग भवन की दीवारें और छतें चुनते हैं। कई उसका लकड़ी का काम करते हैं। कई उसका बिजली का काम करते हैं। इस प्रकार हो सकता है कि विश्व के निर्माणकर्ता कई हों। यह युक्ति यह सिद्ध करने में असमर्थ है कि आदि कारण एक और केवल एक ही हो सकता है। यह युक्ति कहीं सिद्ध नहीं करती कि सब घटनाओं की लड़ियां एक लड़ी में समा जाती हैं या एक लड़ी में पिरोई जाती हैं और इस एक लड़ी का कारण केवल मात्र ईश्वर है। स्पष्ट है कि यह युक्ति बहुईश्वरवाद के साथ संगत है। इसलिए इस युक्ति से 'एक' ईश्वर सिद्ध नहीं होता।

(घ) यह युक्ति यह भी सिद्ध नहीं करती कि विश्व का आदि कारण सर्वश्रेष्ठ ईश्वर है। इस युक्ति में तो केवल यह कहा गया है कि घटनाओं या अस्तित्वों की लड़ियां हैं और उनका आदिकारण होना चाहिए। यदि ये घटनाएं या अस्तित्वों की लड़ियां अशुभकर हैं तो इस विश्व का रचयिता अनैतिक है। यह सिद्ध करने के लिए कि इस विश्व

का कारण सर्वश्रेष्ठ ईश्वर है, यह सिद्ध करना होगा कि यह विश्व सब सम्भव दोषों से मुक्त है और इसमें सम्भवतः सब प्रकार के श्रेष्ठ मूल्य हैं। दूसरे शब्दों में सर्वश्रेष्ठ ईश्वर तभी सिद्ध हो सकता है यदि ईश्वर की रचना श्रेष्ठ सिद्ध की जाये। ईश्वरवादी इस युक्ति की इस सीमा को जानते हैं और इसीलिए इस युक्ति पर संतुष्ट नहीं होते। वे दूसरी युक्ति भी देते हैं कि विश्व में अस्तित्वों का परस्पर मेल है जिसके द्वारा वे शुभ उद्देश्यों को पूरा करते हैं। इसलिए यह सर्वश्रेष्ठ ईश्वर की रचना है। इस युक्ति को आयोजन युक्ति या (Argument from Design) कहते हैं। अब हम ईश्वरवादियों की आयोजन-युक्ति का वर्णन और परीक्षण करेंगे।

: ६ :

आयोजन-युक्ति

जगत-कारण-युक्ति के अध्ययन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि आदि या आधार कारण को सत्य भी मान तो भी ईश्वर के अस्तित्व की स्थापना नहीं होती। आदिकारण परमाणु और गति भी हो सकते हैं। ईश्वरवादी स्वयं मानते हैं कि आदि कारण ईश्वर की स्थापना में पहला पड़ाव है। यदि आदि या आधारकारण नहीं है तो ईश्वर नहीं हो सकता। परन्तु यदि आदिकारण या आधार-कारण हो तो आवश्यक नहीं कि वह ईश्वर हो। आदि या आधार-कारण तभी ईश्वर को सिद्ध कर सकता है यदि वह चैतन्य हो, सर्वशक्तिमान हो, सर्वश्रेष्ठ हो और सर्वज्ञ हो। इसलिए ईश्वरवादी यह साबित करने का प्रयत्न करते हैं कि आदि कारण या आधार कारण में ये सब गुण हैं।

१

विश्व के अस्तित्वों का क्या स्वभाव है जिससे हम यह परिणाम निकाल सकें कि आदि या आधार कारण ईश्वर है ? विश्व के अस्तित्वों का किसी न किसी क्रम में बंधे होने के लिए किसी ईश्वर की ज़रूरत नहीं। कल्पना कीजिए कि चार परमाणु गति में है। वे कोई न कोई रूप लिए बिना नहीं रह सकते और वे जो भी रूप लेंगे वे किसी न किसी व्यवस्था का नमूना होगा। चार परमाणु निम्नलिखित ऐसे रूप लेसकते हैं —

. .. .

. . ..:. इत्यादि

.. . . .

ये प्रत्येक रूप अपने आप में एक व्यवस्था हैं। ऐसी कोई व्यवस्था धारण करने के लिए किसी व्यक्ति के कार्य व्यस्त होने की कोई आवश्यकता नहीं। अब ठोस दृष्टान्त लीजिए। आपको पता है कि एक समय हमारी पृथ्वी और दूसरे ग्रह सूर्य के भाग थे। फिर एक फिरता फिराता सितारा सूर्य के निकट आया और इनके परस्पर खिचाव के कारण सूर्य का एक भाग अलग हो गया और यह अलग हुआ टुकड़ा और टुकड़ों में बंट गया और ये टुकड़े ग्रह बन गए जो आपसी खिचाव के कारण विशेष आकार में सूर्य के गिर्द घूमने लगे। पृथ्वी का एक टुकड़ा चाँद के रूप में एक और उपग्रह बन गया है। अब पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमने में एक दायरा सा बनाती है। हम पृथ्वी और चाँद के सूर्य के गिर्द घूमने के आकार के आधार पर यह जान सकते हैं कि कब ग्रहण होगा। हमारा सूर्य परिवार एक क्रमिक व्यवस्था का दृष्टान्त है। परन्तु यदि पृथ्वी दायरे के स्थान पर आयताकार रूप में चक्कर लगाती और इस प्रकार और ग्रह अपनी गति में अब से भिन्न आकार बनाते तो वह भी एक क्रमिक व्यवस्था होती। हमारे सूर्य परिवारजै से अनेक परिवार हैं और उनके अपने ग्रह-उपग्रह कुछ और ही ज्यामितीय विन्यास (Geometrical Pattern) में घूमते हैं। स्पष्ट है कि **व्यवस्था** किसी **विशेष प्रतिरूप** का नाम नहीं है। वास्तव में तथ्य कोई न कोई व्यवस्था बनाये बिना नहीं रह सकते और इसलिए हमारे सूर्य परिवार की व्यवस्था से यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि इस व्यवस्था को स्थापित करने वाला ज़रूर कोई करता या ईश्वर होगा।

२

ईश्वरवादी विश्व में व्यवस्था से ईश्वर को सिद्ध नहीं करते। उनका कहना है कि हमारी पृथ्वी की व्यवस्था का **विशेष स्वभाव है।** यह व्यवस्था साध्य और साधन के सम्बन्ध में बंधी हुई पाई जाती है। अठारहवीं शताब्दी के पश्चिमी दार्शनिक श्री विलियम पेले (William Paley) लिखते हैं, "जंगल को पार करते हुए यदि मेरा पाँव एक पत्थर से टकराये और मेरे से कोई पूछे कि यह पत्थर यहाँ क्यों है। तो

मैं सम्भवतः यह उत्तर दूंगा कि शायद यह पत्थर हमेशा से यहां है। परन्तु यदि मुझे ज़मीन पर पड़ी हुई कोई घड़ी मिल जाये और मेरे से कोई पूछे कि यह घड़ी कहाँ से आई है तो मैं उसका उत्तर उसी प्रकार न दूंगा जो मैंने पत्थर के विषय में दिया है। अर्थात मैं यह नहीं कहूँगा कि घड़ी हमेशा से यहाँ होगी। यह क्यों है कि घड़ी के लिए वह ही उत्तर ठीक नहीं जो पत्थर के लिए ठीक है? इसलिए और केवल इसीलिए कि जब हम घड़ी की परीक्षा करते हैं तो हम देखते हैं कि इस घड़ी के भिन्न-भिन्न पुर्ज़े विशेष रूप से बने हुए हैं ताकि उनका आपस में सामंजस्य हो सके और वे मिलकर समय दें। यह बात पत्थर के भागों के लिए सच नहीं है। घड़ी के पुर्ज़ों का रूप और उनका एक उद्देश्य पूर्ति के लिए सामंजस्य इस बात की साक्षी है कि इसके बनाने वाला कोई बुद्धिमान व्यक्ति होगा। जो घड़ी के बारे में सच है, वह विलियम पेले साहब के अनुसार, आंख और शरीर के अन्य अंगों के बारे में भी सच है। आँख के अलग-अलग भागों के रूप और गुण मिलकर किस सुगमता और सफलता से देखने का काम करते हैं!! ऐसा लगता है कि इसे एक महाशिल्पकार ने बनाया है जो प्रकाश के नियमों का पूरा ज्ञानी हो।"

इस दृष्टांत से स्पष्ट है कि ईश्वरवादी व्यवस्था और प्रयोजनबद्ध व्यवस्था में भेद करते हैं। पत्थर भी एक अस्तित्व है जैसे घड़ी और आंख का अस्तित्व है। इनमें अन्तर यह है कि पत्थर के भाग प्रयोजनबद्ध नहीं। वे केवल यांत्रिक या कार्य-कारण नियमों के आधीन जुड़े हुए हैं। परन्तु घड़ी और आँखें प्रयोजन और बुद्धि के फल हैं। यदि प्रयोजन और बुद्धि न हो तो घड़ी नहीं हो सकती। इन चीज़ों में केवल व्यवस्था ही नहीं परन्तु यह व्यवस्था प्रयोजन से निश्चित हुई है। प्रयोजन एक चैतन्य व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। इसलिए जीवधारियों की शारीरिक गठन जो प्रयोजनबद्ध हैं ईश्वर के कारण है। इसलिए ईश्वर है।

एक और ईश्वरवादी हैनरी मूर (Henry Moore) इस प्रकार शारीरिक अंगों की गठन के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। वह लिखते हैं, "हमारे हाथों, बांहों और अंगुलियों में तीन-

तीन जोड़ क्यों हैं ? इसलिए कि दो या चार जोड़ हमारे लिए इतने सहायक न होते। इसी प्रकार हमारे सामने के दांत छैनी की भांति तेज़ क्यों हैं और हमारे पीछे के दांत चौड़े क्यों हैं ? संभव था कि हमारे सामने के दांत चौड़े होते और पीछे के दांत छैनी की भांति तेज़ होते। फिर दांत केवल हमारे जबड़ों में क्यों हैं और बाकी हड्डियों में क्यों नहीं ? कारण यह है कि विश्व में हर चीज किसी प्रयोजन को लेकर है। ईश्वर ने सब चीज़ें प्रयोजन को लेकर बनाई हैं।"

उपरोक्त वर्णन आयोजन-युक्ति का पहला स्तर है। यह स्तर केवल विश्व में अस्तित्वों को लेकर उन्हें प्रयोजनबद्ध दिखाकर ईश्वर की स्थापना करता है। विश्व में जीवित अस्तित्वों की गठन मनुष्य की बनाई चीजों की न्याई है। जैसे शिल्प वस्तुएं तभी हो सकती हैं जब कोई बुद्धिमान शिल्पी हो। इसी प्रकार जीवित अस्तित्वों की गठन तभी सम्भव है यदि इनके बनाने वाला कोई व्यक्ति हो। मनुष्य की जटिल और सूक्ष्म गठन का किसी और विधि से वर्णन नहीं हो सकता सिवाय यह मानने के कि इस गठन का निर्माता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वश्रेष्ठ ईश्वर है।

इस युक्ति का दूसरा स्तर यह है कि जीवित वस्तुओं का निजी गठन ही ईश्वर को सिद्ध नहीं करता परन्तु इस विशाल और विभिन्न विश्व के भाग एक दूसरे के साथ मिलकर महा प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। हमारे गठन ही आश्चर्यजनक नहीं, परन्तु हमारे गठन को बनाये रखने के लिए पृथ्वी पर विशेष प्रबन्ध है। ऐसा अनुभव होता है कि सारी पृथ्वी मनुष्य को कायम रखने के लिए बनी है। हमारी पृथ्वी की हवा की गैसें इस अनुपात में हैं जो जीवन सम्भव करती हैं। यदि इन गैसों का अनुपात बदल दिया जाए तो जीवनधारी जीवित ही नहीं रह सकते। इसी प्रकार ताप की मात्रा ऐसी है जिसमें जीवन सम्भव है। ज़मीन ऐसी उपजाऊ है कि मनुष्य अपने जीने के लिए उस पर खेती कर सकता है। हमारा जीवन इस पृथ्वी के वरदानों से भरा हुआ है। डाक्टर एफ० आर० टेननेन्ट (Dr. F. R. Tennant) अपनी पुस्तक 'फिलासोफिकल थियोलोजी' (Philosophical Theology) में मनुष्य और प्रकृति के छः पक्षों में मेल

बताते हैं। (i) विश्व की गठन ऐसी है कि मनुष्य उसे अधिक से अधिक समझने के योग्य हो रहा है या समझाता जा रहा है। विश्व ऐसा जटिल हो सकता था कि मनुष्य ऐसे ही अज्ञानी रह जाता जैसे आज पशु हैं। विश्व और मनुष्य के मेल का यह एक चिन्ह है कि मनुष्य विश्व को समझ सकता है। (ii) हमारी पृथ्वी का वातावरण जीवधारियों के अनुकूल है और इसलिए इस पृथ्वी पर जीवन सम्भव है। (iii) जीवित अस्तित्व अपने वातावरण के साथ मेल स्थापित कर पाये हैं। (iv) विश्व केवल हमारी समझ के साथ ही मेल में नहीं जिसके कारण हम विश्व ज्ञान रखते हैं, वह हमारे सौन्दर्य और नैतिक भावों के विकास में भी सहायक है। इसलिए हम विश्व के सुन्दर दृश्यों द्वारा अपने सुन्दर भावों की तृप्ति पाते हैं। विश्व हमारे नैतिक गुणों को पैदा करने में भी सहायक है। विश्व नियमबद्ध है और यह हमारे जीवन को भी नियमबद्ध बनाता है। (v) विकास के पड़ाव योजनाबद्ध हैं। जातियों का विकास इस ढंग से हुआ है ताकि मनुष्य में आकर समाप्त हो।

३

अब हमने देखना है कि क्या यह आयोजन-युक्ति सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ और सर्वशक्तिमान ईश्वर की स्थापना करती है या नहीं? इस युक्ति का तार्किक आधार **सादृश्यता** है। अर्थात मनुष्य की बनाई हुई चीज़ें और मनुष्य के शारीरिक अंगों की गठन में कुछ समानताओं के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि मनुष्य और अन्य जीवधारियों की गठन बनाने वाला ईश्वर है। हमारी बनाई हुई चीज़ें जैसे घड़ी और आंख में कई समान पक्ष हैं। जैसे घड़ी के पुर्ज़ों का विशेष आकार है वैसे ही आंख के भाग भी विशेष आकार रखते हैं। जैसे घड़ी एक प्रयोजन सिद्ध करती है वैसे आंख भी एक प्रयोजन सिद्ध करती है। अब घड़ी का एक और गुण यह है कि उसको बनाने वाला घड़ीसाज़ है। इसलिए ईश्वरवादी यह **अनुमान लगाते हैं** कि आंख को बनाने वाला भी ज़रूर ईश्वर होगा।

तार्किक दृष्टि से ऐसा सादृश्य अनुमान दोषपूर्ण है। यदि दो चीज़ें आपस में मिलती हों तो इससे हम यह निश्चित रूप से अनुमान नहीं

लगा सकते कि यदि एक चीज़ का कोई अधिक गुण है तो दूसरी में भी होगा। उदाहरणार्थ ज़मीन और चांद कई गुणों में मिलते हैं। एक समय ये दोनों सूर्य के भाग थे। अब ये दोनों सूर्य के गिर्द घूमते हैं। ये दोनों ही सूर्य से प्रकाश लेते हैं। इन दोनों में रात-दिन होता है। अब पृथ्वी पर मनुष्य हैं। यह पृथ्वी का अधिक गुण है। पृथ्वी और चांद की समानता के आधार पर क्या हम निश्चत रूप से अनुमान लगा सकते हैं कि चांद पर ज़रूर मनुष्य होंगे ? नहीं। चांद की यात्रा ने यह सिद्ध कर दिया है कि चाँद पर कोई मनुष्य नहीं है। वहां कोई जीवधारी नहीं। स्पष्ट है कि ईश्वरवादियों का अनुमान कि आंख बनाने वाला जरूर होगा क्योंकि आंख हमारी बनी हुई चीजों, जैसे घड़ी, से मिलती है, तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण है। यह अनुमान उतना ही दोषपूर्ण है जैसे यह अनुमान दोषी है कि संतोष ज़रूर होशियार होगा क्योंकि उसका दोस्त मदन होशियार है। वे दोनों एक ही नगर के हैं। वे दोनों एक ही मकान में रहते हैं। उनके जन्म की तिथि भी एक है। उनका रहना सहना भी एक है। दो चीज़ों की समानता के आधार पर निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता क्योंकि इन चीज़ों में भिन्नतायें भी हैं जो अनुमान को कमज़ोर बना देती हैं। आंख और घड़ी में विशेष भिन्नतायें क्या हैं जिसके फलस्वरूप ईश्वर का अनुमान निकालना तार्किक रूप से दोषपूर्ण है ? यह भिन्नता इस प्रकार है :—

हम घड़ी या मकान से तो यह अनुमान लगा सकते हैं कि उनके बनाने वाला होगा क्योंकि हमने घड़ी और घड़ी के बनाने वाले को, मकान और मकान के बनाने वाले को, इकट्ठे देखा है। घड़ी और घड़ीसाज़, मकान और राज के सम्बन्ध का हमें अनुभव है। इसलिए यदि हमें कोई घड़ी जंगल में मिल जाये तो हम ठीक अनुमान लगा सकते हैं कि उसके बनाने वाला होगा। हमने किसी को मनुष्य का जीवित शरीर या कोई शरीर का अंग जैसे आंख घड़ते नहीं देखा। हमारे अनुभव में मनुष्य का जीवित शरीर और उसके बनाने वाला इकट्ठे नहीं देखे गए। इसलिए मनुष्य के शरीर को देखकर यह अनुमान नहीं लगा सकते कि उसके बनाने वाला अवश्य होगा। घड़ी और मनुष्य के जीवित शरीर के अंगों में मूल अन्तर यह है कि घड़ी के बनाने

वालों के मनुष्य मात्र को **अनेक** अनुभव हैं, परन्तु मनुष्य के शरीर के अंगों को बनाने वाले का किसी को भी अनुभव नहीं। इसके विपरीत हमारे अनगिनित अनुभव हैं कि सिर, आंखें, कान, नाक, हाथ, धड़, बाहें और टांगे बनाने वाला कोई नहीं। गर्भावस्था में शिशु के अंग मां नहीं बनाती। ये अंग शिशु में **स्वयं विकसित** होते हैं। यह हमारा साक्षात् अनुभव है। ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर इन जीवित शिशुओं में **अज्ञात रूप** से काम कर रहा है। हम पूछते हैं कि आप इस अनुमान पर कैसे पहुँचे ? ईश्वरवादी कहते हैं कि हर चीज जिसके अंग मिलकर कोई उद्देश्य पूरा करते हैं, वह बनाई जाती है। हम पूछते हैं कि आप इस **सर्वमान्यता** पर कैसे पहुँचे ? ठीक है कि शिल्प वस्तुएँ बनाई जाती हैं, परन्तु उनकी संख्या जीवधारियों की तुलना में कुछ भी नहीं। असंख्य जीवित अस्तित्वों अर्थात् पौधे, पत्ती, कीटाणु, पशु और मनुष्यों को कोई बनाने वाला नहीं यद्यपि इनकी गठन में साध्य और साधन का लक्षण है। यदि आपने अपने अभिकथन को सत्य सिद्ध करना हो तो आपको पहले ईश्वर का अस्तित्व बिना जीवित अस्तित्वों की सहायता के सिद्ध करना होगा और फिर आपको तार्किक अधिकार है कि ईश्वर के सृष्टा के गुण पर अनुमान निकालें कि जीवित अस्तित्वों में ईश्वर की अदृश्य शक्ति काम कर रही है। अन्यथा आपकी युक्ति में चक्र-दोष है। आप ईश्वर के अस्तित्व को जीवित अस्तित्वों के विकास पर आधारित करते हैं और फिर जीवित अस्तित्वों को ईश्वर पर आधारित करते हैं। असंख्य तथ्य आपकी इस सर्वमान्यता का खंडन हैं कि प्रत्येक अस्तित्व बनाया जाता है। जब दैनिक अनुभव इस बात की कोई साक्षी नहीं देता कि **प्रत्येक** अस्तित्व जिसमें साध्य-साधन का लक्षण है, बनाया जाता है, तो इस अनुमान का कोई आधार नहीं कि मनुष्य के शरीर के अंगों का कोई बनाने वाला है।

४

विश्व अद्वितीय है, अनन्य है। जो पूर्णतः अद्वितीय या अनन्य है उसके अद्वितीय कारण का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यदि कई विश्व होते और हमने इनमें से कुछ को ईश्वर द्वारा रचित होते

देखा होता, तो हम अपने विश्व के सम्बन्ध में यह अनुमान लगा सकते थे कि इसका रचयिता ईश्वर हो सकता है। विश्व के अद्वितीय होने पर हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि ईश्वर उसका रचयिता है।

इसी प्रकार ईश्वर मनुष्य से पूर्णतः भिन्न है। हम अपने साथी मनुष्यों की कार्य-योग्यता से परिचित हैं। इसलिए हम अनुमान लगा सकते हैं कि मनुष्य किस प्रकार के कार्य कर सकता है। ईश्वर शरीर रहित पूर्ण अस्तित्व कल्पित किया जाता है। उसकी समझ और भाव हमारे से पूर्णतः भिन्न माने जाते हैं। हम ऐसे पूर्ण भिन्न ईश्वर के विचार से कोई अनुमान नहीं लगा सकते कि उसका कार्य किस प्रकार का होगा।

जब कार्य और कारण दोनों अद्वितीय हैं और उनके परस्पर सम्बन्ध का कोई अनुभव नहीं तो न कार्य से कारण का और न कारण से कार्य का अनुमान लगाया जा सकता है। हम विश्व से अनुमान नहीं लगा सकते कि इसका कारण ईश्वर है क्योंकि विश्व अद्वितीय है। हम ईश्वर की कल्पना से यह अनुमान नहीं लगा सकते कि वह किस प्रकार का जगत रच सकता है, या उसमें रचनात्मक गुण है या नहीं।

५

अब तक हमने इस युक्ति का तार्किक दृष्टि से खण्डन किया है। अब हम इसका विज्ञान द्वारा खोजे तथ्यों की दृष्टि से खण्डन करेंगे।

इस युक्ति का कहना है कि ईश्वर की कल्पना किए बिना हम पशु और मनुष्य के शारीरिक अंगों की उपयोगिता या विश्व की मनुष्य के लिए उपयोगिता का कोई वर्णन नहीं कर सकते। उदाहारणार्थ ईश्वर-वादी हैनरी मूर कहते हैं कि इस बात का कैसे वर्णन हो कि हमारे हाथों, बाहों और उंगुलियों में तीन जोड़ हैं और न इनसे अधिक हैं और न कम। यदि यह जोड़ तीन से अधिक होते या कम होते तो हमारे हाथों, बाहों और उंगलियों की इतनी उपयोगिता न होती। इसी प्रकार हमारे अगले दांत छैनी की तरह तेज़ क्यों हैं और पिछले दांत चौड़े क्यों हैं?

प्रकृतिवादी अंगों की उपयोगिता का वर्णन डार्विन (Darwin) के प्राकृतिक विकासवाद द्वारा देते हैं। डार्विन का विकासवाद यह है कि जीन (gene) के जोड़ परिवर्तन होते रहते हैं और उसके फलस्वरूप पशुओं में नए-नए गुण पैदा होते हैं। इसे विभिन्नता का नियम (Principle of Variation) कहते हैं। पशुओं के नए गुणों का चुनाव प्रकृति का वातावरण करता है। पशुओं के जो गुण प्रकृति के साथ सामंजस्य करते हैं उनके रखने वाले जीवित रह जाते हैं और उनकी पीढ़ियां आगे बढ़ती हैं और जो गुण प्रकृति के साथ सामंजस्य नहीं करते उनके रखने वाले मर जाते हैं और उनकी पीढ़ियां आगे नहीं चलतीं। इसको अंग्रेजी में 'प्रिंसिपल आफ नेचुरल सिलैक्शन' (Principle of Natural Selection) और हिन्दी में प्राकृतिक चुनाव कहते हैं। इन दोनों नियमों अर्थात् भिन्नता और उनके चुनाव के आधार पर पशुओं के अंगों की उपयोगिता का वर्णन हो सकता है।

साधारणतः हमारा अनुभव है कि एक ही माता-पिता की सन्तान भिन्न-भिन्न गुण लेकर पैदा होती है। कोई बच्चा होशियार होता है और कोई बुद्धू। कोई कमज़ोर होता है और कोई बलवान। कोई साफ़ रंग का होता है और कोई काला। डार्विन के अनुसार इन और ऐसा भिन्नताओं का मूल कारण लिंग कोषों के तत्वों या जीनों के जोड़ में है। भिन्न जीनों के मिलने से नए-नए गुण पैदा हो जाते हैं और नई-नई जातियों भी पैदा हो जाती हैं। ऐसे गुण परिवर्तन जिसमें नई जाति का जन्म हो उसे अंग्रेज़ी में म्यूटेशन (Mutation) कहते हैं और हिन्दी में उत्परिवर्तन कहते हैं। ऐसे नए गुणों में से कुछ जीवन के लिए सहायक और कुछ जीवन के लिए घातक होते हैं। मान लो कि मनुष्य जाति के एक पीढ़ी के अधिकाँश व्यक्तियों में अगले दांत चौड़े और पिछले दांत तेज़ उत्पन्न होते हैं और दूसरे कुछ व्यक्तियों में अगले दांत तेज़ और पिछले दांत चौड़े पैदा होते हैं। पहली श्रेणी के व्यक्ति अपने भोजन खाने में कष्ट का अनुभव करेंगे और कम खा सकेंगे। दूसरी श्रेणी के व्यक्ति अपने भोजन को खूब चबाकर खाएंगे। जीवन की दौड़ में पहली श्रेणी के व्यक्ति अपने दांतों की गठन की अनुपयोगिता के कारण मृत्यु को प्राप्त होंगे और दूसरी श्रेणी के व्यक्ति अपने अंगों

की उपयोगिता के कारण अधिक जियेंगे और उनकी नई पीढ़ियां मनुष्य की नई जाति बन जाएंगी। जातियों में नए-नए गुण और अंग उत्पन्न होते रहते हैं और जो गुण परस्पर मिलकर व्यक्ति के जीने में सहायक होते हैं वह गुण रखने वाले व्यक्तियों की पीढ़ियां आगे चल सकती हैं और अनुपयोगी गुणों या अंगों के रखने वाले व्यक्ति स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं और उनकी आगे कोई पीढ़ी नहीं रहती। हज़ारों भूल और प्रयास के तजुर्बों के बाद ही किसी जाति के वह अंग रह जाते हैं जो उसके जीने में सहायक हों। मनुष्य के हाथ, बाजू और पैर के तीन जोड़ उपयोगी हैं। जिन व्यक्तियों के जोड़ तीन से ज्यादा या तीन से कम थे, वह व्यक्ति या उनकी पीढ़ियां जीवन की दौड़ में पीछे रह गईं और जिन व्यक्तियों के अंगों के तीन जोड़ हुए, वह ज़िन्दा रहे और उनकी पीढ़ियां बढ़ीं।

स्पष्ट है कि अंगों की उपयोगिता का वर्णन डार्विन के प्राकृतिक विकासवाद से भलीभांति हो सकता है।

इस प्रकार पृथ्वी के वायुमण्डल की उपयोगिता का वर्णन हो सकता है। उदाहरणार्थ वायु गैसों से मिलकर बनी हुई है। इन गैसों के अनेक जोड़ सम्भव हैं। जैसा हम शुरू में वर्णन कर आये हैं ऐसे अनेक जोड़-तोड़ के लिए किसी चेतन व्यक्ति या ईश्वर की प्राक्कल्पना की आवश्यकता नहीं। इन अनेक गैसों के जोड़ में से एक वह जोड़ हुआ है जो जीवधारियों के लिए उपयोगी प्रमाणित हुआ है। ऐसा गैसों का जोड़ हमारी पृथ्वी पर हैं और इसलिए यहां जीवधारी हैं! सौर परिवार के किसी और ग्रह पर यह उपयोगी गैसों का जोड़ नहीं। वहां जीवन भी नहीं। अनगिनित ग्रहों में किसी एक पर ऐसे गैसों का जोड़ होना जो जीवनधारियों के लिए उपयोगी हो किसी योजना का चिह्न नहीं। ऐसी घटना जोड़-तोड़ के नियम से वर्णित हो जाती है।

डाक्टर टेनेन्ट स्वयं मानते हैं कि उनके बताए हुए सामंजस्य लक्षणों में से कोई भी लक्षण नहीं जो ईश्वर को स्वयं सिद्ध कर सके। हां, उनका कहना है कि यह लक्षण मिलकर ईश्वर की सत्यता को सिद्ध करते हैं। तार्किक दृष्टि से उनका यह अनुमान दोषयुक्त है। जब कोई युक्ति किसी निष्कर्ष को सफल रूप से सिद्ध नहीं करती तो वह कुछ भी

सिद्ध नहीं करती और ये युक्तियां जो पृथक रूप से कुछ सिद्ध नहीं करतीं, तो वे मिलकर भी कुछ सिद्ध नहीं करतीं।

६

ईश्वरवादी कह सकते हैं कि यदि हम डार्विन के प्राकृतिक वर्णन को मान लें कि किस प्रकार समय के साथ सरल जीवों से मनुष्य का विकास हुआ है, तो भी इसका कोई वर्णन नहीं कि सरल जीवनधारी कहां से आये। इस समय बहुत से प्रयोग हो रहे हैं कि किस प्रकार रसायन तत्वों द्वारा जीवित अस्तित्व पैदा किए जायें। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के प्रो० डा० कृष्णबहादुर और उनकी धर्मपत्नी रंगनायकी ने रसायन प्रयोग-शाला में रसायन तत्त्वों द्वारा टैस्ट टयूब में जीवित अस्तित्व पैदा किया है जिसे उन्होंने 'जीवाणु' का नाम दिया है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० एम० एच० ब्रिग्स ने भी अपने तजुर्बों से इन प्रयोगों की पुष्टि की है। अभी-अभी डा० गोविन्द खुराना ने अमेरिका के विश्वविद्यालय में रसायन तत्वों के जोड़ से जीन (Gene), जो जीवित शरीर का निर्माण करता है और उसके गुणों का निश्चय करता है, पैदा किए हैं। ठीक हैं, ये तजुर्बे अभी पूर्ण सफलता को प्राप्त नहीं हुए। अभी कुछ और समय चाहिए कि ये तजुर्बे पूर्ण रूप से सफल हों। परन्तु सैद्धान्तिक रूप से अब कोई कठिनाई नहीं समझी जाती कि जीवन, अजीवित तत्वों से विकसित हुआ है।

७

अब ईश्वरवादी एक और पक्ष बदलते हैं। वह कहते हैं कि विकास विधि ईश्वर की विधि है। हम इस भूल में थे जब हमने ये समझा कि ईश्वर ने प्रकृति और उसके जीवों को एक विशेष घड़ी में रचा। अब भेद खुल गया है कि विकास की लाखों करोड़ों वर्षों की विधि ईश्वर की अपनी विधि है और इसलिए डार्विन का विकासवाद ईश्वर विश्वास के विरुद्ध नहीं है।

ईश्वरवादियों का ऐसा समझना केवल दिल की तसल्ली है। विकास की विधि भूलों की विधि है। यदि इस विधि का संचालक ईश्वर

है तो उसे बुद्धिमानी में नहीं गिना जा सकता। ब्रट्रेंड रसेल का कहना है कि यदि वह इस विकासविधि का संचालक होता तो वह इसकी भूलों और कठोरताओं पर अति लज्जित होता। यदि किसी बालक को चाबियों का गुच्छा ताला खोलने को दे दिया जाये और वह हर एक चाबी लगा-कर देखे तो हम कहेंगे कि उसमें कोई समझ नहीं। विकास विधि द्वारा मनुष्य को पैदा करने का जीव-इतिहास इस बालक की भूलों से कहीं अधिक भूलों का इतिहास है। इसमें बुद्धि का कोई दख़ल नहीं। यदि विकासवाद ईश्वरीय विधि है तो ईश्वर को बुद्धि रहित बालक या बुद्धि-रहित वृद्ध की स्थिति दी जा सकती है।

८

अब तक हमने इस युक्ति के एक पक्ष का खंडन किया है कि विश्व में प्रयोजनबद्ध अस्तित्व तथा ऐसे अस्तित्वों और वातावरण में सामंजस्य-कर्त्ता को प्रमाणित नहीं करता। अब हम आगे चलते हैं। यदि युक्ति के लिए हम यह मान लें कि आयोजनबद्ध अस्तित्वों और ऐसे अस्तित्वों के लिए अनुकूल वातावरण विश्व का कर्त्ता प्रमाणित करते हैं परन्तु वे कर्त्ता को सर्वज्ञ ईश्वर प्रमाणित नहीं करते।

यदि सब जीव जन्तुओं और हमारे सौर परिवार को एक ईश्वर ने बनाया भी हो तो भी हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि यह ईश्वर सर्वज्ञानी और सर्वशक्तिमान है। हम केवल इतना ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वह अति ज्ञानी और अति शक्तिमान है। जब कार्य के रूप में विश्व के अस्तित्व सीमित हैं तो उनसे असीमित कारण का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यदि कोई मेज़ या कुर्सी बनाये तो हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि उनका बनाने वाला सर्वज्ञानी और सर्वशक्तिमान बढ़ई है। मेज या कुर्सी बनाने के लिए जितनी बुद्धि और शक्ति चाहिए उतनी ही बुद्धि और शक्ति का अनुमान हम उस बढ़ई में मान सकते हैं। इससे अधिक नहीं। इसी प्रकार हम जीवधारियों के शारीरिक गठन से यह अनुमान नहीं लगा सकते कि इनके बनाने वाला ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। उदाहरणार्थ ईश्वर का बनाया हुआ जंगली गुलाब लें। मनुष्य ने गुलाब की नई से नई जातियां रची हैं। मनुष्य रचित गुलाब

की जातियां जंगली गुलाब से कहीं उत्तम हैं, परन्तु हम यह निष्कर्ष नहीं निकालते कि इन नई जातियों के निर्माण कर्त्ता मनुष्य सर्वज्ञ हैं। आपने ईश्वर का बनाया हुआ जंगली सेब देखा होगा। आप शायद उसे खाना भी पसन्द न करें। मनुष्य ने इस सेब से सेब की कई नई जातियां पैदा की हैं। आप सबने कश्मीर और कुल्लू के सेबों का मज़ा लिया होगा। हम इन नई जातियों के निर्माता को सर्वज्ञ नहीं कहते, तो भला ईश्वर को जंगली सेब बनाने पर सर्वज्ञ क्योंकर कह सकते हैं। इसी प्रकार मनुष्य ने पशुओं की भी नई जातियां पैदा कर ली हैं जो तथाकथित जातियों से कहीं अधिक हितकर हैं। आज मनुष्य जीव-विज्ञान में बड़ी तेज़ी से प्रगति कर रहा है और शीघ्र ही ऐसा समय आ रहा है जब मनुष्य अपनी जाति से 'अतिमानव' (Super Man) जाति पैदा कर लेगा। तब भी हम ऐसे रचयिताओं को सर्वज्ञानी नहीं कह सकते। स्पष्ट है कि किसी भी अस्तित्व को ईश्वर रचित क्यों न माना जाये इससे ईश्वर की सर्वज्ञता तथा सर्व शक्तिमानता सिद्ध नहीं होगी।

९

इस युक्ति का अंतिम दोष यह है कि यह विश्व के कर्ता को सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करने में असफल है। कोई व्यक्ति उतना ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है जितना उसका कार्य श्रेष्ठ हो। यदि कोई मकान बनाने वाला मकान बनाए और कुछ समय पश्चात् उस मकान की दीवारों में दरारें आ जायें या उसका पलस्तर गिरने लगे और वह बारिश में जगह-जगह से टपकने लगे, तो ऐसे मकान बनाने वाले को हम कुशल कारीगर नहीं कहेंगे। हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसके सम्बन्ध में हमारा अनुभव बड़ा कटु है। हम सब जानते हैं कि किस प्रकार आंधियां, तूफ़ान, बाढ़ और बिजली आए दिन मनुष्यों के लिए मुसीबत बने रहते हैं और मनुष्य की पूरी कोशिश पर भी ये किस प्रकार अथक प्रयत्नों द्वारा प्राप्त लहराती हुई खेतियां, बने हुए मकान, पले पोसे हुए निर्दोष पशु और सुखी परिवारों का सर्वनाश कर देते हैं।

यदि पशु जगत का विकास ईश्वर की ओर से संचालित हुआ है तो यह अति रक्त रंजित इतिहास है। पशु जगत् में पशु जातियां एक

दूसरे का नाश करने पर उतरी हुई हैं। एक ओर खुंखार पशु हैं जो निर्दोष पशुओं को सदा भय और कष्ट में रखते हैं और अवसर पाने पर उन्हें चीर-फाड़ कर खत्म करते हैं और दूसरी ओर ऐसे कीटाणु हैं जो बड़े-बड़े पशुओं और मनुष्यों का जीवन हर लेते हैं। कैन्सर के कीटाणुओं ने तो रामकृष्ण परमहंस को भी नहीं छोड़ा।

ठीक है आंखें अति जटिल और सूक्ष्म अंग हैं और यदि इनके बनाने वाला कोई है तो प्रशंसा का पात्र है। परन्तु हमारी आंखों के अनेक रोग भी हैं जो ये दिखाते हैं कि ये अंग आदर्श स्वास्थ्य की दृष्टि से कितने अपूर्ण हैं यदि आपका पैन गर्मियों में बहने लग जाए तो आप उसे दोषी पैन ठहरायेंगे और बनाने वाले को अपूर्ण बतायेंगे। वही चीज़ पूर्ण समझी जाती है जो एक ओर दोष रहित हो और दूसरी ओर कार्य सफलता में पूर्ण हो। इस दृष्टि से हमारे अंग बहुत निम्न श्रेणी की शिल्प निपुणता दिखाते हैं। एक ओर वे अपने कार्य सफलता में साधारण हैं और दूसरी ओर वह अनगिनित रोगों के शिकार बने रहते हैं।

क्या हमारी पृथ्वी के बनाने वाले को सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि इस पृथ्वी पर कई वरदान हैं। हमारे देश में गंगा के तटवाली भूमि उपजाऊ है। यदि इस उपजाऊ धरती के आधार पर हम ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ कहें तो राजस्थान की बंजर मरु-भूमि के आधार पर ईश्वर को क्या कहें? यदि जगह-जगह पर ऐसे वायुमण्डल हैं जहां जीवन सम्भव है और इनके लिए ईश्वर के गुण गाने चाहिए तो पृथ्वी के ऐसे स्थानों जैसे उत्तरी ध्रुव और दक्षिण ध्रुव, के ऐसे भाग जिस पर जीवन सम्भव नहीं तो उनके आधार पर क्या ईश्वर की निन्दा नहीं होनी चाहिए? यदि आंख की गठन पर ईश्वर के गुण गाना आवश्यक है तो आंख की रोग प्रवृत्ति पर ईश्वर की निन्दा आवश्यक नहीं? यदि पृथ्वी पर अच्छी चीज़ें ईश्वर को श्रेष्ठ सिद्ध करती हैं तो क्या बुरी चीज़ें उसे बुरा सिद्ध नहीं करतीं? यह सरल तर्क है। इससे भेद क्यों कर हो सकता है?

ईश्वरवादी इस सरल तर्क से निकल भागना चाहते हैं। उनका कहना है कि जिन अवस्थाओं को हम बुरा कहते हैं वह वास्तव में शुभ-

कर अवस्थायें हैं। हम अपनी सीमित बुद्धि और सीमित अन्तःकरण के कारण ऐसी अवस्थाओं को बुरा समझते हैं जबकि वास्तव में वे बहुत अच्छी अवस्थाएं हैं।

ईश्वरवादियों का अपने ईश्वर का ऐसा पक्ष उन्हें स्वयं ले डूबता है। **अपनी सीमित समझ और अंतःकरण के आधार पर ही** ईश्वर-वादी विश्व और मनुष्य की कुछ अवस्थाओं को श्रेष्ठ कहते हैं और ईश्वर का गुणगान करते नहीं थकते। यदि उनकी **सीमित समझ और अन्तःकरण** अच्छे और बुरे में ठीक परख नहीं कर सकते तो वे किस आधार पर यह कह सकते हैं कि जिन अवस्थाओं को वह श्रेष्ठ कहते हैं वह वास्तव में शुभकर हैं? जो समझ और अन्तःकरण किसी अवस्था को शुभकर दिखाती है वही समझ और अन्तःकरण उससे उलट अवस्था को अशुभकर दिखाती है। वही आंखें जो हमें किसी चीज़ को सफेद दिखाती हैं वही किसी और चीज़ को काला दिखाती हैं। हमें या तो अपनी समझ और अन्तःकरण पर विश्वास करना होगा और उनकी शुभ और अशुभ की परख को मूलरूप से ठीक समझना होगा; या नहीं। यदि हमारी शुभ और अशुभ की परख मूल रूप से ग़लत है तो हम यह नहीं कह सकते हैं कि ईश्वर श्रेष्ठ है। हो सकता है कि जिन गुणों को हम श्रेष्ठ कहते हैं वह निकृष्ट हों। ईश्वरवादी अपने ईश्वर को सर्व-श्रेष्ठ नहीं कह सकते यदि वह अपने सीमित अन्तःकरण की शुभ और अशुभ की परख को मूलरूप से मिथ्या या त्रुटिपूर्ण मानते हैं। यदि वह अपनी शुभ और अशुभ के सम्बन्ध में परख को मूलरूप से ठीक मानते हैं तो वह इन्कार नहीं कर सकते कि आंधियां, तूफ़ान, भूकम्प और बाढ़ें अशुभकर हैं जो लहराती हुई खेतियों, हितकारी पशुओं, निर्दोष बच्चों, पवित्र चरित्र वाली नारियों और श्रमजीवी किसानों को मौत के घाट उतारती हैं। यदि इनका संचालक ईश्वर है तो वह पूर्ण रूप से निन्दा योग्य है। यदि ऐसी कठोर दुखदायी मृत्यु को पापों की सज़ा मान लिया जाए तो ऐसी सज़ा का संचालक सब सभ्य कसौटियों की दृष्टि से निन्द-नीय समझा जायेगा। आज के मनुष्य समाज का अन्तःकरण यह मांग करता है कि पापी हमारी सहानुभूति का पात्र है, सज़ा का पात्र नहीं। मनुष्य ने पापी को सज़ा नहीं देनी। उसे ऐसा सुधारक वातावरण देना

है जिससे वह सुधर जाये। आज के जेल सुधार-शालायें बन रहे हैं। क्या ईश्वर का अन्तःकरण मनुष्य के अन्तःकरण से कम विकसित है? क्या वह ऐसी कठोर और अंधाधुंध सज़ाओं को देकर भी सर्वश्रेष्ठ हो सकता है? निष्पक्ष अन्तःकरण ईश्वर की निन्दा किए बिना नहीं रह सकता।

यदि विश्व में बुराई है जैसे कि इससे इन्कार नहीं किया जा सकता तो हमारे सामने ईश्वर के सम्बन्ध में दो चुनाव रह जाते हैं। एक यह कि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ तो है परन्तु वह सर्वशक्तिमान नहीं है। वह चाहकर भी और भरसक कोशिश करके भी विश्व के बुरे पक्षों को नहीं हटा सकता। ऐसा सीमित कर्त्ता ईश्वर नहीं रहता। सीमित ईश्वर परस्पर विरोधी विचार हैं। सीमित ईश्वर केवल आदर्श पुरुष ही रह जाता है। दूसरा चुनाव यह है कि ईश्वर सर्व-शक्तिमान तो है परन्तु वह कुछ पक्षों में अच्छा है और कुछ पक्षों में बुरा है। यदि ईश्वर की चरित्र अवस्था यह है तो वह हम मानवों जैसा ही है। हम भी कुछ पक्षों में अच्छे हैं और कुछ में बुरे हैं। आध्यात्मिक और नीति की दृष्टि से ईश्वर मनुष्य ही रह जाता है, चाहे सर्वशक्तिमान ही क्यों न माना जाये। कुछ भी चुनाव कीजिए, ईश्वर ईश्वर नहीं रहता। इस पक्ष का विस्तार-पूर्वक अध्ययन और खंडन इस पुस्तक के तीसरे भाग के अठारहवें अध्याय में 'घटनाओं का अच्छा और बुरापन' शीर्षक में किया गया है।

हमने इस युक्ति के तीन पक्षों से टीका टिप्पणी की है — (i) यह युक्ति विश्व को बनाने वाले को सिद्ध करने में असमर्थ है। यह विश्व के अस्तित्वों की मनुष्य की बनी हुई चीज़ों से तुलना करके यह निष्कर्ष निकालती है कि विश्व का बनाने वाला है। सादृश्यता के आधार पर ऐसा प्रमाण तार्किक दृष्टि से दोषयुक्त है। दूसरा तथ्यों की दृष्टि से जीव-धारियों के अंगों की उपयोगिता का ईश्वरवाद की अपेक्षा डार्विन के प्राकृतिक विकासवाद से कहीं अधिक संतोषजनक वर्णन होता है। इसलिए ईश्वर की प्राक्कल्पना करना व्यर्थ है। (ii) यह युक्ति ईश्वर को सर्वज्ञ सिद्ध करने में असफल है। मनुष्य की कृतियां प्राकृतिक अस्तित्वों से कहीं श्रेष्ठ हैं तब भी हम मनुष्य अपने आपको सर्वज्ञ नहीं समझते। ईश्वर को उसकी अपूर्ण रचनाओं के लिए क्योंकर सर्वज्ञ

कहा जा सकता है। (iii) यह युक्ति ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने में असमर्थ है। विश्व में जहां अच्छी चीज़ें हैं वहां बुरी चीजें भी हैं। इससे इसका रचयिता या तो सीमित शक्तिवान या सीमित श्रेष्ठ व्यक्ति सिद्ध होता है परन्तु सीमित शक्तिवान ईश्वर या सीमित श्रेष्ठ ईश्वर, ईश्वर नहीं रहता, केवल बलवान मनुष्य या आदर्श मनुष्य रह जाता है !

इस युक्ति के अपने दोषों के अतिरिक्त उसमें जगत-कारण युक्ति के सब दोष हैं, अर्थात् (१) यह युक्ति कार्य-कारण के नियम पर आधारित है, जो यह मांग करता है कि ईश्वर का भी कारण होना चाहिए। यदि मनुष्य की आत्मा के निर्माण के लिए ईश्वर चाहिए तो ईश्वर की आत्मा के लिए भी निर्माता चाहिए। (२) कार्य-कारण के अनुसार कारण-लुप्त भी हो जाता है। मेरे कारण माता-पिता हैं परन्तु वह मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। बीज कोंपलों के निकलने पर स्वयं नष्ट हो जाता है। इस कार्य-कारण के स्वभाव के अनुसार हम परिणाम निकाल सकते हैं कि ईश्वर विश्व की रचना करके मर ही गया होगा। (३) यदि प्रत्येक प्रयोजन-बद्ध अस्तित्व का कारण हैं तो यह ज़रूरी नहीं कि सब का कारण एक हो। हम जानते हैं कि भिन्न वस्तुओं के बनाने वाले भिन्न शिल्पकार होते हैं। कपड़ा बनाने वाले और खिलौने बनाने वाले पृथक-पृथक शिल्पकार होते हैं। इस अनुभव के आधार पर हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि इस पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न पौधों—और पशुओं की जातियों को बनाने वाले भिन्न-भिन्न ईश्वर हैं।

यह युक्ति यह सिद्ध करना चाहती थी कि विश्व का आदि या आधार कारण (i) एक (ii) सर्वज्ञ (iii) सर्वश्रेष्ठ (iv) और सर्व-शक्तिमान है। यह युक्ति इनमें से किसी भी बात को सिद्ध नहीं कर पाई।

: १० :

प्रत्यय-सत्ता-युक्ति

१

हमने देखा कि जगत-कारण-युक्ति और आयोजन-युक्ति दोनों ही ईश्वर के अस्तित्व को स्थापित करने में असफल रही हैं। इनके मुख्य रूप से दो दोष रहे हैं। ये युक्तियां ईश्वर को स्थापित करने के लिए कार्य-कारण के नियम का आधार लेती हैं और यही नियम ईश्वर-स्थापना का खण्डन करता है। विश्व में अस्तित्व और घटनायें हैं। इनका कारण होना चाहिए। वह ईश्वर है। यह जगत-कारण-युक्ति है। विश्व के जीवों के अंगों में प्रयोजनबद्ध सामंजस्य है। इन्हें बनाने वाला कोई कारण है वह ईश्वर है। यह आयोजन-युक्ति है। यदि हरएक अस्तित्व का कारण हो तो ईश्वर का भी कारण होना चाहिए। जिस आधार पर हम और अस्तित्वों का कारण पूछते हैं उसी आधार पर हम ईश्वर का कारण पूछने का अधिकार रखते हैं। ईश्वर बाकी अस्तित्वों से किस प्रकार भिन्न है कि वह अकारण है ? जब तक हम अन्य अस्तित्वों और ईश्वर में ऐसी भिन्नता नहीं बता सकते जो अन्य अस्तित्वों के बारे में कारण पूछने का अर्थ बनाये रखे परन्तु ईश्वर का कारण पूछने को व्यर्थ बताये, तबतक ये युक्तियां ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकतीं। ईश्वरवादी स्वयं इस आपत्ति या दोष को समझते हैं और इसका उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रयत्न प्रत्यय-सत्ता-युक्ति का रूप लेता है। यह युक्ति सिद्ध करती है कि ईश्वरके गुण अन्य अस्तित्वों से भिन्न हैं जिसके फल-स्वरूप उसका अस्तित्व स्वयं ही अपना कारण है।

पहली दोनों युक्तियों का दूसरा महादोष यह है कि वह ईश्वर की परिभाषा के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर पातीं। जगत-

कारण-युक्ति केवल आधार कारण की स्थापना करती है और यह जड़वाद के सिद्धान्त के साथ संगत है। जड़वादी विश्वास करते हैं कि विश्व का आधार कारण जड़ और गति है। आयोजन-युक्ति इस युक्ति की सहायता को आती है और यह सिद्ध करने की कोशिश करती है कि यह आधार कारण चैतन्य है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है और सर्वश्रेष्ठ है। यह युक्ति कुसादृश्य पर आधारित है। जीवित अस्तित्वों की प्रयोजनबद्धता तथा वातावरण के साथ सामंजस्य का वर्णन प्रकृति विकासवाद है। जीवित और अजीवित अस्तित्व और इनके व्यवहार ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ साबित नहीं करते। इस प्रकार दोनों युक्तियां ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने में असमर्थ हैं।

प्रत्यय-सत्ता-युक्ति इन दोनों दोषों को मिटाती है। इस युक्ति की विशेषता यह है कि यह एक साथ ही ईश्वर को **हर रूप में पूर्ण** और **अनिवार्य अस्तित्व** सिद्ध करती है। यदि यह युक्ति ठीक हो तो ईश्वर की स्थापना पूर्णतः सफल सिद्ध हो जाती है। यदि यह युक्ति ग़लत हो तो बौद्धिक स्तर पर ईश्वर की स्थापना नहीं हो सकती।

२

पश्चिमी दर्शन के इतिहास में सेंट एन्सलम (St. Anselm) पहले दार्शनिक थे जिन्होंने प्रत्यय-सत्ता-युक्ति प्रस्तुत की। उन्होंने इस युक्ति का इस प्रकार वर्णन किया। मेरे मनमें ईश्वर के बारे में हय विचार है कि वह ऐसा अस्तित्व है जिससे बड़े या महान अस्तित्व की कल्पना नहीं हो सकती। परन्तु किसी अस्तित्व की कल्पना एक चीज़ है और उसका वास्तव में होना दूसरी चीज़ है। जब एक कलाकार अपने मन में किसी चित्र खींचने के बारे में सोचता है तो वह खूब जानता है कि किसी चित्र का मन में होना एक चीज़ है और उसे वास्तव में खींचना दूसरी चीज़ है। जब वह अपने मन में धारण किया हुआ चित्र खींच लेता है तो वह फिर जानता है कि अब चित्र केवल उसके मन में ही नहीं, वास्तव में भी है। ईश्वर के विचार या अवधारणा अन्य अस्तित्वों की अवधारणाओं से भिन्न और विशेष है। उसकी अवधारणा उसके वास्तव में होने को भी सिद्ध करती है। ईश्वर का विचार ऐसे अस्तित्व का अवधारण है

जिससे अधिक सत्यता रखने वाले अस्तित्व की कल्पना नहीं हो सकती। मान लो यह अवधारणा केवल हमारे मन का ही विचार है और वास्तव में इस अवधारण का कोई अस्तित्व नहीं। अब हम कल्पना कर सकते हैं कि ऐसी अवधारणा रखने वाले का अस्तित्व भी है। अब इन दोनों कल्पनाओं की तुलना कीजिए। ईश्वर की परिभाषा यह है कि वह ऐसा अस्तित्व है जिससे बड़े अस्तित्व की कल्पना नहीं हो सकती। यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो वह उस ईश्वर की अपेक्षा अधिक सत्यता रखता है जो केवल कल्पना मात्र ईश्वर है। कल्पना मात्र ईश्वर वह ईश्वर नहीं जिससे अधिक अस्तित्व रखने वाले की कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि हम अस्तित्व रखने वाले ईश्वर की कल्पना भी कर सकते हैं। हम अपने विचार का स्वयं विरोध करते हैं जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर वह है जिससे अधिक अस्तित्व रखने वाले की कल्पना नहीं हो सकती और फिर कहते हैं कि हो सकता है उसका अस्तित्व न हो। यदि उसका अस्तित्व रखने वाले की कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि हम अवश्य कल्पना कर सकते हैं कि ऐसा अस्तित्व है।

इस युक्ति का सेंट एन्सलम के एक साथी पादरी गाऊनिलो (Gaunilo) ने खण्डन किया। उसने दो दोष बताए। ईश्वर की परिभाषा कि वह ऐसा अस्तित्व है जिससे अधिक अस्तित्व की कल्पना नहीं हो सकती, अन्तर्बवस्तु से खाली है, अर्थात्, बिल्कुल थोथी है। यह परिभाषा नहीं बताती कि ईश्वर क्या है, उसके गुण क्या हैं। यह अवधारणा ऐसी ही अन्तर्वस्तु रहित है जैसे 'अस्तित्व' (Being) का विचार है। हम समझते हैं कि लोहा क्या है, पानी क्या है, हवा क्या है। परन्तु यह विचार कि इन सब जड़ पदार्थों का सार्वजनिक अस्तित्व क्या है, एक ऐसा विचार है जो गुणरहित हैं और इसलिए थोथा शब्द है। गाऊनिलो द्वारा इस टीका की ईसाई धर्म के महान दार्शनिक टामस एक्वाईनस (Thomas Aquinas) ने पुष्टि की है। जॉन स्काटस (John Scots) ने भी इसकी पुष्टि की है। जब ईश्वर का विचार अन्तर्विषय से खाली है? उदाहरणार्थ शुद्ध अस्तित्व (Pure Being) से किसी ठोस अस्तित्व का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

गाऊनिलो ने इस युक्ति का दूसरा दोष यह बताया है कि हम

केवल कल्पना से किसी चीज़ का होना सिद्ध नहीं कर सकते। मान लो मैं एक पूर्ण द्वीप की कल्पना करता हूं। अवश्य ही मैं यह कल्पना करता हूँ कि ऐसे आदर्श द्वीप का अस्तित्व है, क्योंकि यदि मैं उसके होने की कल्पना नहीं करता तो वह उस द्वीप से कम पूर्ण है जिसकी कल्पना में उसका होना सम्मिलित है और इसलिए वह आदर्श द्वीप न रहेगा। आदर्श द्वीप के अर्थ में उस द्वीप के होने का विचार भी शामिल है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ऐसा आदर्श द्वीप सचमुच है। इसी तरह जब हम ईश्वर का विचार मानते हैं तो उसके साथ उसके होने का विचार भी मानते हैं, परन्तु दो विचार के परस्पर सम्बन्ध से चाहे यह सम्बन्ध अनिवार्य क्यों न हो, यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि वास्तव में ऐसा अस्तित्व है जिसमें ये दोनों गुण हैं।

गाऊनिलो द्वारा टीका की ईसाई धर्म के महान दार्शनिक सेंट टामस एक्वाईनस ने पुष्टि की है। इसलिए यह युक्ति ईसाई धर्म में अस्वीकृति हो गई।

३

१७वीं शताब्दी में फिर कुछ दार्शनिकों ने इस युक्ति को दोहराया। फ्रांस के दार्शनिक डेकार्ट (Descartes) जिसे आधुनिक पश्चिमी दर्शन का निर्माता कहा जाता है, ने इस युक्ति को इस प्रकार प्रस्तुत किया है। मेरे मन में कुछ ऐसे विचार हैं जिनका सम्बन्ध मेरी इच्छा से है। मैं अपनी इच्छानुसार पुरुष और सिंह के विचारों को जोड़कर नरसिंह का विचार बांध सकता हूं। मैं पुरुष और हाथी के विचारों को जोड़कर गणेश की कल्पना कर सकता हूं। परन्तु कुछ विचार ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध उन विचारों के स्वभाव पर है और मेरी इच्छा कुछ नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ तिकोन और उसके अन्तः कोणों का दो समकोण के बराबर होने का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध मैं समझ सकता हूं परन्तु तोड़-मोड़ नहीं सकता। मैं चाह-कर भी तिकोन के अन्तः कोणों को तीन समकोणों के बराबर नहीं कर सकता। इसी प्रकार मेरे मन में ईश्वर का विचार है। यह विचार ऐसे अस्तित्व का विचार है जिसमें सब पूर्णताएं हैं। इस विचार से हम

उसके 'होने' का अनुमान उसी तरह निश्चित रूप से लगा सकते हैं जिस प्रकार तिकोन से उसके अन्तः कोणों के दो समकोण के बराबर होने का अनुमान निकाल सकते हैं। कोई कह सकता है और डेकार्ट के आलोचकों ने कहा भी है कि जब हम तिकोन से उसके अन्तः कोणों के दो समकोणों के बराबर होने का अनुमान निकालते हैं तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि तिकोन कहीं 'है'। उसी प्रकार ईश्वर की परिभाषा से उसके होने का अनुमान नहीं निकाल सकते। डेकार्ट ने उत्तर में कहा है कि तिकोन के विचार में उसका होना सम्मिलित नहीं, परन्तु ईश्वर की परिभाषा में उसका 'होना' सम्मिलित है। इसलिए जहां तिकोनों का विचार उसके होने को सिद्ध नहीं करता ईश्वर का विचार उसके होने को सिद्ध करता है।

प्रत्यय-सत्ता-युक्ति का यह नया रूप इस युक्ति की गुप्त धारणा को स्पष्ट करता है। सैंट एनसलम की ईश्वर परिभाषा अन्तर्विषय रहित थी। डेकार्ट ईश्वर की परिभाषा की इस कमी को पूरा करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर वह एक पुरुष है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वश्रेष्ठ है अर्थात् जिसमें सब भावात्मक गुण पूर्ण मात्रा में हैं।

डेकार्ट की ओर से प्रस्तुत की गई युक्ति के बारे मे दो प्रश्न हैं :—
(i) क्या उनकी दी हुई ईश्वर की परिभाषा अर्थपूर्ण है? (ii) यदि यह परिभाषा अर्थ पूर्ण है तो क्या इस परिभाषा से ईश्वर के होने का अनुमान निकाला जा सकता है?

४

ईश्वर की परिभाषा के बारे में प्रोफेसर सी० डी० ब्रॉड (Prof. C. D. Broad) का कहना है कि ऐसे पूर्ण गुणों और इन गुणों की पूर्ण मात्रा का ईश्वर का विचार आत्मविरोधी है। आवश्यक नहीं कि सब गुण एक दूसरे के साथ संगत हों।[१] पूर्णतः सम्भव है कि जड़ अस्तित्व चेतन न हो सकता हो और सर्वचेतन अस्तित्व जड़ बद्ध न हो सकता हो। ईश्वर की कल्पना केवल एक शुद्ध चेतना की कल्पना है। उसके

---

१. प्रोफेसर सी० डी० ब्रॉड (Prof. C. D. Broad) रिलिजयन, फ़िलासफ़ी एन्ड साईकिकल रिसर्च (*Religion, Philosophy and Psychical Research*) भाग दो, लेख दूसरा, पृष्ठ १७८-७९।

साथ डेकार्ट ने शरीर का गुण सम्मिलित नहीं किया यद्यपि डेकार्ट जड़ को सत्य मानता था।

मूल-रूप से हिन्दू-दर्शन प्रकृति या पंचभूतों या परमाणुओं अर्थात् भौतिक द्रव्य को सत्य मानते हैं परन्तु ईश्वर को शरीर रहित घोषित करते हैं। ये दार्शनिक ईश्वर में चेतना और जड़ या भौतिक द्रव्य को असंगत समझते हैं। यदि जड़ का पक्ष ईश्वर के साथ संगत नहीं हो सकता तो ईश्वर सर्वगुणी नहीं। पुनश्च यह हो सकता है कि मात्राओं की पूर्णता संभव न हो जैसे सबसे बड़ा अंक सम्भव नहीं। हो सकता है कि हरएक गुण की पूर्णमात्रा सम्भव न हो। उदाहरणार्थ सुख की पूर्ण मात्रा सम्भव नहीं हो सकती। इसलिए मात्रा रूप से यह कहना कि ईश्वर पूर्ण आनन्दमय है, इसी तरह अर्थरहित है जैसे यह कहना कि अमुक अंक सबसे बड़ा अंक है।[२] सी० डी० ब्राड के अनुसार ईश्वर की परिभाषा अर्थरहित शब्दों का जोड़ है।

५

मान लो कि ईश्वर की परिभाषा अर्थपूर्ण है तो क्या इससे उसके 'होने' का अनुमान निकाला जा सकता है? जर्मनी के विश्वविख्यात दार्शनिक, कान्ट ने इस युक्ति को दो स्तरों पर दोषयुक्त ठहराया है। डेकार्टने अपनी प्रत्यय-सत्ता-युक्ति के लिए रेखागणित को अपना सादृश्य बनाया है। उसका कहना है कि जैसे रेखागणित में तिकोन से उसके गुणों का अनुमान लगाया जा सकता है उसी प्रकार हम ईश्वर की परिभाषा से उसके होने का अनुमान लगा सकते हैं। डेकार्ट स्वयं महान गणितज्ञ होकर भी भूल गए कि रेखागणित या गणित में हम केवल विचारों की दुनिया तक ही सीमित रहते हैं। हम विचारों के परस्पर सम और असम होने की खोज करते हैं। हम विचारों के आकारी सम्बन्धों की खोज करते हैं। इससे आगे नहीं जा सकते। जब हम तिकोन की अवधारणा से यह अनुमान लगाते हैं कि उसके अन्तःकोण दो समकोणों के बराबर हैं तो हम केवल यह कहते हैं कि **यदि** तिकोन हो

---

२. वही पृष्ठ १७९-४८

तो उसके अन्तःकोण दो समकोण के बराबर होंगे अर्थात् रेखागणित या गणित के सब तर्कवाक्य सापेक्ष होते हैं। गणित केवल संभावित दुनिया की बात करता है वास्तविक दुनियाँ की बात नहीं करता ! इस गणित की दुनिया के अनुमान केवल सापेक्ष होते हैं। यदि आप तिकोन की अवधारणा करते हैं तो उसके गुणों का भी अनुमान कर सकते हैं और बस। उससे आगे यह सवाल कि क्या तिकोन है या नहीं इसकी जानकारी इस विज्ञान से बाहर है। यह तो अनुभव द्वारा ही हो सकती है। उसी प्रकार रेखागणित के नमूने पर यह कह सकते हैं कि ईश्वर की अवधारणा के साथ उसके होने के विचार का अनुमान कर सकते हैं और बस। ईश्वर है या नहीं यह अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। ठीक है ईश्वर के विचार के साथ उसके 'होने का विचार' अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है। जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि ईश्वर है तो उसका होना अनिवार्य है, जैसे यदि तिकोन है तो उसके अन्तःकोणों का दो समकोण होना अनिवार्य है। परन्तु इससे कैसे सिद्ध होता है कि ईश्वर है ? किसी दो गुणों के विचारों का अनिवार्य सम्बन्ध इस बात को सिद्ध नहीं करता कि कोई अस्तित्व है जिसमें यह दोनों गुण हैं। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ईश्वर के विचार के साथ उसके 'होने का विचार' सम्बन्धित है परन्तु इससे आगे उसके वास्तविक रूप में 'होने' का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। ईश्वर के 'होने' का 'विचार' और उसके 'वास्तविक रूप में होने' में न पार कर सकने वाली खाई है। डेकार्ट तो अपने सिद्धान्त में 'विचार' और 'अस्तित्व' की बहुत स्पष्ट परख करता है परन्तु ईश्वर की सिद्धि में इस परख को भूल जाता है। यह उसकी भूल है कि उसने ईश्वर की परिभाषा से ईश्वर के होने का अनुमान लगाया, यद्यपि उसे तार्किक दृष्टि से केवल ईश्वर के होने के विचार मात्र की आज्ञा थी।

६

दूसरे स्तर पर कान्ट ने डेकार्ट की दूसरी भूल को स्पष्ट किया। हमने डेकार्ट के साथ पक्ष किया है कि जब हमने यह कहा कि डेकार्ट की युक्ति इतना तो सिद्ध करती है कि ईश्वर के विचार और उसके

होने के विचार में अनिवार्य सम्बन्ध है। जहां तिकोन की अवधारणा से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके अन्तःकोण दो समकोणों के बराबर हैं, वहां ईश्वर की पूर्णता से उसके होने के विचार का अनुमान नहीं लगा सकते। मान लो आप पूछते हैं कि नरसिंह क्या है? हम जवाब देते हैं कि नरसिंह उसे कहते हैं जिसका आधा शरीर पुरुष का हो और आधा शरीर सिंह का हो। आपको शब्द को परिभाषा तो समझ आ गई है। इस परिभाषा में और गुण भी सम्मिलित किए जा सकते हैं जैसे उसमें सिंह जैसी वीरता और पुरुष जैसी समझ और धीरता है। जब आपने नरसिंह के बारे में सब गुण जान लिए तो आप एक और प्रश्न करते हैं कि क्या इस परिभाषा का कोई अस्तित्व हुआ है? आपके प्रश्न से स्पष्ट है कि आप इस बात में भेद करते हैं कि किसी शब्द की परिभाषा एक चीज़ है और यह जानना कि उस शब्द की परिभाषा का कोई अस्तित्व है या नहीं, दूसरी बात है। यदि आप इन दोनों प्रश्नों में भिन्नता करते हैं तो आप खूब समझते हैं कि किसी शब्द की परिभाषा में उसका होना या न होना सम्मिलित नहीं। ईश्वर की क्या परिभाषा है यह एक सवाल है और क्या इस परिभाषा का अस्तित्व है या नहीं यह दूसरा सवाल है। दूसरा सवाल पहले सवाल में सम्मिलित नहीं। पहले का उत्तर दूसरे का उत्तर नहीं। यदि 'होना' उसी प्रकार का गुण होता जिस प्रकार ज्ञान, शक्ति और श्रेष्ठता के गुण हैं तो यह दूसरा प्रश्न ही न उठता कि किस परिभाषा वाले ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं।

आइये 'गुण' और 'है' के भेद को और स्पष्ट करें। गुण वस्तुओं को दो भागों में बांट देता है। लाल रंग चीज़ों को लाल और न-लाल चीज़ों में बांट देता है। परन्तु 'है' या 'अस्तित्व' वस्तुओं को 'है' और 'न-है' में नहीं बांटता, क्योंकि 'न है' किसी चीज़ का गुण नहीं। 'है' उस प्रकार का गुण नहीं जिस प्रकार ज्ञान, शक्ति या श्रेष्ठता गुण हैं। ज्ञान का गुण व्यक्तियों को ज्ञानी और अज्ञानी में बांटता है। परन्तु 'है' या 'अस्तित्व' चीज़ों को 'है और न-है' के गुण में नहीं बांटता। 'न-है' अर्थ रहित है।

इस 'गुण' और 'अस्तित्व' के भेद को एक और दृष्टान्त द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। यदि मैं कहूं कि मेरे पास एक चीज़ है तो आप

उत्सुक हो जाएंगे कि वह क्या है । आप कहते हैं कि आप उसका कोई गुण बतायें तो हम अनुमान लगा लेंगे कि वह क्या है । यदि मैं कहूं कि अच्छा मैं इसका एक गुण बताता हूं और वह यह है कि वह 'है', तो आप निराश हो जाएंगे। आप कहेंगे कि यह कोई गुण नहीं कि वह 'है' । आप हमें बताए कि वह खाने की चीज़ है या ड्राइंग रूम में रखने की, या ओढ़ने की चीज़ है इत्यादि-इत्यादि। स्पष्ट है कि 'है' से चीज़ के किसी गुण की जानकारी नहीं होती और चीज़ों के गुणों की जानकारी से यह पता नहीं लगता कि ऐसे गुणों वाला कोई अस्तित्व है या नहीं !

किसी चीज के 'गुण' और 'होने' या 'है' में भेद स्पष्टीकरण उन वाक्यों के तार्किक विश्लेषण द्वारा हो सकता है जिनमें इनका प्रयोग किया जाता है। उदाहरण लीजिए—'घोड़े घास खाते हैं' । इस वाक्य का तार्किक विश्लेषण यह है यदि कोई घोड़ा होगा तो वह घास खाएगा या कुछ घोड़े हैं और वह घास खाते हैं । यह वाक्य घोड़े के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान देता है । अब दूसरा वाक्य लीजिए अर्थात् 'घोड़े हैं ।' इसका अर्थ तार्किक विश्लेषण द्वारा ऊपर के वाक्य की न्याईं यह होगा कि यदि कोई घोड़ा है तो वह है । इस वाक्य में कोई ज्ञान उपलब्धि नहीं । यह पुनरुक्ति है। इसमें ज्ञान की वृद्धि नहीं । स्पष्ट है कि 'गुण' और 'है' भिन्न-भिन्न प्रकार के विधेय हैं । यह बात नकारात्मक वाक्यों से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'कुत्ते नहीं हंसते' का वाक्य लीजिए । इसका तार्किक विश्लेषण यह है कि यदि कोई कुत्ता है तो वह नहीं हंसता । अब दूसरा वाक्य लीजिए कि 'परियां नहीं ।' इसका तार्किक विश्लेषण यह है कि यदि कोई परी है तो वह नहीं है। यह वाक्य आत्म-विरोधी है । स्पष्ट है कि यदि हम 'है' को 'गुण' की कोटि में रखें तो जिन वाक्यों में इसका प्रयोग होता है तो वे या पुनरुक्ति होते हैं या आत्मविरोधी होते हैं जिससे यह निर्णय निकलता है कि 'है' 'गुण' की कोटि में नहीं रखा जा सकता ।

यदि 'है' परिभाषिक गुणों की न्याईं विधेय नहीं तो किसी चीज़ की परिभाषा से उसका होना सिद्ध नहीं होता । कान्ट का दूसरा खण्डन ठीक है कि ईश्वर की अवधारणा से उसके होने के विचार का भी अनुमान नहीं निकाला जा सकता । उसके वास्तविक रूप में 'होने' का

यह अनुमान निकालने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

'गुण' और 'है' के भेद का एक और फल यह है कि 'गुण' और 'है' का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं । इसके फलस्वरूप हम पूर्ण गुणवान ईश्वर के न होने की कल्पना कर सकते हैं । इस कल्पना में कोई आत्मविरोध नहीं । यदि पूर्ण गुणसम्पन्न ईश्वर का अस्तित्व मान भी लिया जाये तो भी उसकी 'पूर्णता' और 'है' में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं । तार्किक दृष्टि से 'गुणों' और 'है' में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं क्योंकि 'है' कोई गुण नहीं है । इसलिए यह कहना कि ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य है अर्थरहित वाक्य है ।

हमने प्रत्यय-सत्ता-युक्ति के बारे में यह कहा था कि जगत-कारण-युक्ति और आयोजन-युक्ति इस युक्ति के सत्य होने पर आधारित हैं । जब तक ईश्वर का अनिवार्य अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता तब तक जगत-कारण-युक्ति और आयोजन-युक्ति ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकतीं। अब हमने देखा कि प्रत्यय-सत्ता-युक्ति असफल सिद्ध हुई है ।

अंग्रेज़ी दार्शनिक ह्यूम (Hume) और जर्मन दार्शनिक कान्ट (Kant) ने मिलकर ईश्वर सम्बन्धी तीनों युक्तियों की कमर तोड़ दी है । उन दोनों ने इन युक्तियों की ऐसी आलोचना की है कि ये युक्तियां फिर सिर नहीं उठा सकीं। इसका अर्थ यह है कि **बौद्धिक स्तर** पर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। स्मरण रहे कि जर्मन दार्शनिक कान्ट ईश्वर में विश्वास रखते थे परन्तु उन्होंने यह सिद्ध करके दिखाया है कि ईश्वर का अस्तित्व तर्क और तथ्यों द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार रामानुजाचार्य जिन्होंने छः दर्शनों में से सबसे अधिक ईश्वर को अपने तत्त्वमीमांसा में मान्य स्थान दिया है, वह भी इस परिणाम पर पहुंचे कि दार्शनिक स्तर पर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता । उन्होंने हिन्दू दर्शनों में जो ईश्वर को स्थापन करने के लिए युक्तियां दी हुई थीं, उनका खण्डन करके यह दिखाया कि ईश्वर का अस्तित्व तर्क और तथ्यों से सिद्ध नहीं हो सकता।

इन दो महान दार्शनिकों कान्ट और रामानुजाचार्य ने ईश्वर के अस्तित्व की स्थापना के लिए और रास्ते निकाले । रामानुजाचार्य ने

कहा कि हमें ईश्वर को वेदों की आधिकारिकता पर मानना चाहिए। रामानुजाचार्य की इस बात में चक्र दोष है। ईश्वर का अस्तित्व इसलिए सच है क्योंकि वेद ईश्वर को सत्य मानते हैं। अब वेद क्योंकर विश्वास योग्य हैं। इसलिए कि वह ईश्वर द्वारा रचित हैं। स्पष्ट है कि ऐसे विचार में चक्र दोष है। यदि वेद ईश्वर से स्वतन्त्र अधिकारयुक्त होते जैसे मीमांसा विचारक मानते थे तो रामानुजाचार्य की बात का वज़न होता। परन्तु जब रामानुजाचार्य वेदों की आधारपूर्णता का आधार ईश्वर मानते हैं जिसका अस्तित्व उनके अनुसार सिद्ध नहीं हो सकता तो वेदों का आधार दोषयुक्त है और इसलिए वे ईश्वर को सिद्ध नहीं करते।

जहां रामानुजाचार्य ने ईश्वर के अस्तित्व को निष्ठा पर आधारित किया वहां जर्मन दार्शनिक कान्ट ने ईश्वरवाद की स्थापना नीति अनुभव के आधार पर रखी। उन्होंने मनुष्य की दृष्टि बाहरी दुनिया से हटाकर आन्तरिक दुनिया पर फेरी और नीति अनुभव द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को अभ्युपगम रूप में सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उनकी युक्ति को नीतिपरक युक्ति कहते हैं। विश्व का अध्ययन ईश्वर को सिद्ध करने में असमर्थ है। क्या मनुष्य के नीति अनुभव ईश्वर को सिद्ध कर सकते हैं ? याद रहे हम बौद्धिक स्तर को छोड़कर अब नैतिक स्तर द्वारा ईश्वर की स्थापना का अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि कहां तक नीति अनुभव ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में सफल है।

: ११ :

नीतिपरक युक्ति

नीतिपरक युक्ति नीति तथ्यों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करती है। इसका कहना है कि सदाचार और उच्च आत्मिक विकास ईश्वर पर आधारित हैं। यदि ईश्वर नहीं तो सदाचार और उच्च आत्मिक विकास का कोई अर्थ नहीं और वे हम पर कोई आबंध या अधिकार नहीं रखते। रूस के एक प्रसिद्ध लेखक डोसटोइवस्की (Dostoievsky) का कहना है कि यदि ईश्वर नहीं है तो प्रत्येक व्यवहार की खुली छुट्टी है। (God is dead and everything is permitted)। इस सूक्ति का एक अर्थ यह है कि ईश्वर के बिना व्यवहारों में अच्छे और बुरे की परख नहीं हो सकती। सब व्यवहार एक समान हो जाते हैं। अच्छे और बुरे व्यवहार की परख का आधार ईश्वर की इच्छा है। व्यवहार स्वयं अच्छे या बुरे नहीं। वही व्यवहार अच्छा है जिसे ईश्वर की इच्छा ने अच्छा घोषित किया हो। वही व्यवहार बुरा है जिसे ईश्वर ने बुरा घोषित किया हो। यदि ईश्वर व्यवहारों के सम्बन्ध में कोई घोषणा नहीं करते तो अच्छे या बुरे व्यवहार में स्वयं कोई परख नहीं की जा सकती। ईश्वर किसी व्यवहार को इसलिए अच्छा नहीं कहता क्योंकि व्यवहार स्वयं अच्छा है। ईश्वर उसे अच्छा कहता है तब ही वह अच्छा बन जाता है। अच्छापन वह गुण है जो ईश्वर किसी व्यवहार को देता है। अच्छापन व्यवहार का अपना कोई गुण नहीं। इसी प्रकार किसी व्यवहार को ईश्वर बुरा इसलिए घोषित नहीं करता क्योंकि वह व्यवहार बुरा है। बुरापन उस व्यवहार का कोई दोष नहीं। जब ईश्वर उसे बुरा कहता है तो वह बुरा बन जाता है। अच्छापन या बुरापन व्यवहारों का आन्तरिक गुण नहीं, परतः गुण है,

दिया हुआ गुण है, मांगा हुआ गुण है। यदि ईश्वर को हटा दिया जाए तो व्यवहारों का अच्छा या बुरापन नहीं रहेगा और इसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यवहार की खुली छुट्टी हो जाएगी।

१

यह विचारधारा कि ईश्वर की इच्छा ही किसी व्यवहार को बुरा या अच्छा बना देती है और ये गुण व्यवहार के अपने आन्तरिक पक्ष नहीं, नैतिकता को राजनीतिक नियमों के नमूने पर सोचना है। साधारण जीवन में अच्छे और बुरे व्यवहार की कसौटी राजनीतिक नियम या सामाजिक रीति-रिवाज हैं। यदि राजनीतिक नियम बहु-विवाह का निषेध करता है तो जो व्यक्ति बहुविवाह करता है वह समझता है और अन्य भी समझते हैं कि उसने बुरा काम किया। उदाहरणार्थ ईसाई राजनीतिक देश के लोग बहुविवाह को बहुत घृणित दृष्टि से देखते हैं और उसे पाप समझते हैं। परन्तु यदि देश की राजनीति या सामाजिक रीति बहुविवाह का निषेध नहीं करती परन्तु उसे वेधैय मानती है तो उस देश और जाति के लोग, जैसे हमारे देश में हिन्दु और मुसलमान, बहुविवाह करके यह नहीं समझते कि उन्होंने कोई बुरा काम किया है।

साधारण लोग सामाजिक रीति-रिवाज और राजनीतिक नियमों को ही अच्छे या बुरे की कसौटी मानते हैं और क्योंकि यह रीति-रिवाज या नियम किसी पंचायत या धर्मगुरु या राजा महाराजा की तरफ से दिए हुए होते हैं, इसलिए स्वभावतः नीति नियमों को राजनीतिक नियमों के नमूने पर सोचने से यह विचार बना कि नीति नियमों को ईश्वर की तरफ से घोषित किया गया है। और जैसे घोषणा के बिना सामाजिक या राजनीतिक नियम सम्भव नहीं, उसी प्रकार नीति नियम ईश्वर की घोषणा के बिना कोई नीति नियम सम्भव नहीं।

मान लो कि नीति नियम उसी प्रारूप (type) के नियम हैं जिस प्रकार राजनीतिक नियम हैं। (यद्यपि यह सच नहीं और हम आगे चलकर इनका भेद स्पष्ट करेंगे।) तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि व्यावहारिक नियमों का अच्छा या बुरापन किसी मानवीय या ईश्वरीय घोषणा

पर निर्भर हैं। थोड़ा सा सोच विचार हमें बता सकता है कि राजनीतिक नियम भी इसलिए अच्छे या बुरे नहीं क्योंकि वे किसी राजा या किसी धर्मशास्त्र की ओर से घोषित किए गए हैं। उदाहरणार्थ पुरानी हिन्दू विधि के अनुसार हिन्दू नारी को पैतृक सम्पत्ति में कोई भाग मिलने का अधिकार न था। इस हिन्दू विधि की न्याय की दृष्टि से आलोचना की गई है और नई हिन्दू विधि में हिन्दू नारी को पैतृक सम्पत्ति में हक दिया गया है। स्पष्ट है की पुरानी हिन्दू विधि में नारियों को पैतृक धन से वंचित रखने का जो राजनीतिक नियम था वह बुरा था, यद्यपि वह घोषित किया हुआ था। किसी चीज़ को घोषित करने से वह ठीक नहीं हो जाती। इसी प्रकार कोई बात इसलिए बुरी नहीं क्योंकि उसे अब तक नियम के रूप में घोषित नहीं किया गया। हम जानते हैं कि अब तक भी हमारी लोकसभा ने समाजवाद के अनुसार कई शुभकर नियम नहीं बनाए।

आप कह सकते हैं कि यह बात केवल राजनीतिक नियमों के बारे में सच है कि कोई नियम इसलिए ठीक नहीं क्योंकि वह घोषित किया गया है। ईश्वर के बारे में यह बात सत्य नहीं। उसके दिए हुए नियम इसलिए ठीक हैं क्योंकि उसने उन्हें घोषित किया है। यह नियम कभी भी ग़लत नहीं हो सकते। हम पूछते हैं कि ईश्वर के दिए हुए कौन-से नीति नियम हैं? यदि ईश्वर के घोषित किए हुए वही नीति आदेश हैं जो धर्मशास्त्रों में पाये जाते हैं तो यह सच नहीं कि ये आदेश इसलिए ठीक हैं क्योंकि ईश्वर के दिए हुए हैं। शास्त्रों में दिए हुए आदेश चाहे वह शास्त्र, वेद, बाइबिल या कुरान शरीफ के क्यों न हों, सबके सब ठीक नहीं। इन आदेशों में से कई एक नीति रूप से निंदनीय हैं। उदाहरणार्थ इन तीनों शास्त्रों में पशुओं की कुर्बानी का आदेश है।[1] बाइबिल तो मनुष्य की कुर्बानी का भी आदेश देती है।[2] आज के सभ्य लोग मानते हैं कि पशुओं की कुर्बानी का आदर्श अतिघृणित है। यह न नीति हैं न धर्म है। इसी प्रकार वेदों में नियोग की शिक्षा है जिसका अर्थ यह है

---

१. बाईबिल की किताब गिनती अध्याय २९ आयत १२; कुरानशरीफ सवरा हज २२ रिकोह ५ आयत एक; यजुर्बेद भाष्य अध्याय १९ मन्त्र २०

२. बाईबिल, ख़रूज (Exodus), अध्याय २१, आयत २९।

कि यदि किसी स्त्री का पति कई वर्षों तक देश से बाहर रहे तो उसको अन्य किसी व्यक्ति के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करके सन्तान पैदा करने की अनुमति है।[३] इसी प्रकार पुरुष अपनी पत्नी के गर्भवती होने पर और कामवासना को थामने के अयोग्य होने पर किसी और स्त्री के साथ कामभोग करके सन्तान की उत्पत्ति कर सकता है ? आज हम ऐसी अनुमति को अनैतिक मानते हैं। ईश्वरीय शास्त्रों के बारे में कहा जाता है कि यदि आप सब शास्त्रों को मानें तो आप सब अनैतिक कर्म कर सकते हैं, क्योंकि किसी में एक अनैतिक बात और किसी में दूसरी अनैतिक बात की अनुमति है। अतएव शास्त्रों के कई आदेश ईश्वरीय होकर भी अनैतिक हैं और इसलिए कोई आदेश इसलिए नीतिपूर्ण नहीं क्योंकि वह ईश्वर का घोषित किया हुआ है। अब हम ईश्वर के घोषित किए हुए आदेशों का नैतिक खण्डन क्योंकर करते और कर पाते हैं ? यह तभी सम्भव है क्योंकि हम नीति नियमों को ईश्वर से स्वतन्त्र मानते हैं और इन स्वतन्त्र नियमों की दृष्टि से ईश्वर के घोषित किए हुए कुछ आदेशों को अनैतिक सिद्ध करते हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि किसी आदेश का ठीक होना एक चीज़ है और उसका ईश्वर की ओर से घोषित होना दूसरी चीज़ है और ईश्वर की घोषणा किसी नियम को नैतिक सिद्ध नहीं करती।

२

यह सत्य है कि किसी व्यवहार का अच्छा या बुरापन किसी के कहने से निश्चित नहीं होता, एक और प्रकार से भी अंकित किया जा सकता है। यदि अच्छे और बुरे या ठीक और गलत व्यवहार में भेद मान लिया जाये तो सवाल यह होगा कि क्या यह ईश्वर की मनमानी के कारण है या ईश्वर ने यह भेद किसी नियमों पर आधारित किया है? यदि यह भेद ईश्वर ने अपनी मनमाने आवेग पर किया है अर्थात् वह किसी तर्क और तथ्यों पर निर्भर नहीं किया और जो उसके दिल में आया उसने कह दिया कि 'यह अच्छा व्यवहार है' और 'यह बुरा व्यवहार है,' तो ईश्वर के लिए अच्छे और बुरे व्यवहार का कोई भेद

३. ऋगवेद आदि भाष्य भूमिका पृष्ठ २१८ प्रकाशन १९३४

नहीं। और इसलिए इस कथन का कोई अर्थ नहीं कि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है।[४] ईश्वरवादी कहते नहीं थकते कि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है। हम पूछते हैं कि क्या ईश्वर सचमुच सर्वश्रेष्ठ है या वह अपने आपको सर्वश्रेष्ठ कहता है ? यदि वह सर्वश्रेष्ठ नहीं और वह कहता है कि वह सर्वश्रेष्ठ है तो वह अनैतिक है क्योंकि वह झूठ कहता है। यदि वह सर्वश्रेष्ठ है तो उसका कहना उसे सर्वश्रेष्ठ नहीं बनाता, क्योंकि उसके कहने से पहले वह सर्वश्रेष्ठ हो तो ही उसका कहना सच है। स्पष्ट है कि श्रेष्ठता-निकृष्टता, अच्छापन या बुरापन किसी के कहने से सम्बन्ध नहीं रखता, चाहे वह कहने वाला ईश्वर ही क्यों न हो।

३

इस सत्य को कि किसी व्यवहार का अच्छा या बुरापन ईश्वर के कहने पर आधारित नहीं एक और अन्य प्रकार से भी स्पष्ट किया जा सकता है। हम ईश्वर के आदेश क्यों मानें ? हम अपने मन के आदेश क्यों न मानें ? इसका उत्तर यह है कि हमारा मन पापी है। यह बुरी प्रेरणाएं देता है। इसलिए हमें अपने आदेश नहीं मानने चाहिएं। न ही किसी और मनुष्य के आदेश मानने चाहिएं। कोई भी मनुष्य पाप-प्रेरणा से ऊपर नहीं। ईश्वर के आदेश मानने चाहिएं क्योंकि ईश्वर का मन पूर्णरूप से सब वासनाओं से पवित्र है और वह सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए उसके आदेश ठीक हैं। ईश्वर के आदेश उसके मन की पूर्ण श्रेष्ठता के आधार पर अच्छे हैं। लेकिन यह कैसे जाना जाए कि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है ? यह तभी सम्भव है यदि हम ईश्वर को एक तरफ़ छोड़कर यह जानें कि नीति नियम क्या हैं और फिर देखें कि कहां तक ईश्वर इन नीति नियमों पर पूरा उतरता है ? हम उसे सर्वश्रेष्ठ तब कहेंगे जब हम उसे नीति-नियमों पर पूर्ण रूप से पूरा उतरता पायेंगे। ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता उससे स्वतन्त्र नीति नियमों से निश्चित होती है, उसके कहने से नहीं। फिर जो नीति नियम ईश्वर के व्यवहार के अच्छे या बुरेपन का निर्णय करते हैं वे मनुष्य के व्यवहार का भी निर्णय करते हैं। स्पष्ट

---

४. बर्ट्रेन्ड रस्सल : 'व्हाई आइ-एम नौट ए क्रिश्च्यन' (*Why I am Not a Christian*) सातवां पेपर बैक, छापा १९६६, पृष्ठ १२।

है कि किसी व्यवहार के अच्छे या बुरेपन का सम्बन्ध ईश्वर के होने या न होने से नहीं है। इसलिए यह मिथ्या विश्वास है कि यदि ईश्वर नहीं तो नैतिकता का अन्त हो जायेगा।

४

नीति-नियम क्या हैं? इनके बारे में कई वाद हैं। लेकिन सब दर्शन नीति-नियमों की वास्तविकता और आधार ईश्वर से स्वतन्त्र पाते हैं। देवात्मावाद के अनुसार नीति-नियमों को शारीरिक स्वास्थ्य के नियमों के नमूने पर सोचना चाहिए। हमारे शरीर के स्वास्थ्य के नियम हैं, अर्थात् हमारा शरीर विशेष परिस्थितियों और व्यवहार में ही स्वस्थ रहता है। इन विशेष परिस्थितियों तथा व्यवहारों को नियम कहते हैं। यदि शरीर है तो संतुलित भोजन उसके स्वास्थ्य का नियम है। यदि हम संतुलित भोजन न खायंगे तो हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जायेगा। इस स्वास्थ्य नियम का ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। यह नियम कार्यशील है चाहे ईश्वर हो या न हो। कोई भी व्यक्ति भोजन खाना छोड़ नहीं देगा क्योंकि ईश्वर नहीं है। क्योंकि उसे पता है कि शरीर को जीवित रखने के लिए उसे भोजन खाना ही होगा। यह नियम शरीर के स्वास्थ्य का नियम है। इसी प्रकार मनुष्य के आत्मिक स्वास्थ्य के नियम हैं। यही नीति नियम हैं। आत्मा कोई तत्त्वमीमांसीय अस्तित्व नहीं। वह कोई अजन्मा, परिवर्तन रहित, नित्य अस्तित्व नहीं। वह केवल जीवनी शक्ति है अर्थात् शरीर का निर्माण, विकास और जीवित रखने वाली शक्ति है। इस शक्ति ने विकास के साथ नए से नए गुण अपने साथ जोड़े हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न जातियों को जन्म दिया है। मनुष्य का आत्मा उनमें से एक जाति है। मनुष्य के आत्मा या जीवनी शक्ति में पौधे और पशुओं की जीवनी शक्तियों के भी गुण हैं और इनके अतिरिक्त भी गुण हैं, जिसके कारण उसे आत्मा का पृथक् नाम दिया गया है। मनुष्य के आत्मा या जीवनी शक्ति में पौधों की जीवनी शक्ति के समान शरीर के निर्माण, विकास और बनाए रखने की शक्ति है। उसमें पशुओं की न्याईं अपनी जाति को पैदा करने की शक्ति है, शरीर को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने की शक्ति है। इन्द्रिय ज्ञान की शक्ति है।

इन शक्तियों के अतिरिक्त उसमें सोच-विचार की शक्ति है, कला की शक्ति है, अच्छे और बुरे की पहचान की शक्ति है। इन और ऐसी सब शक्तियों के गठन-प्राप्त अस्तित्व को आत्मा कहते हैं। आत्मा कोई रहस्यमय अस्तित्व नहीं। वह अन्य प्राकृतिक अस्तित्वों के समान प्राकृतिक अस्तित्व हैं। जैसे शरीर के स्वास्थ्य के नियम हैं वैसे ही आत्मा के भी स्वास्थ्य के नियम हैं। वह ही व्यवहार अच्छा है जो आत्मा के स्वास्थ्य और बल को बढ़ाए। वही व्यवहार बुरा है जो आत्मा के स्वास्थ्य और बल को कम करे। दूसरों को अनुचित हानि पहुंचाने के व्यवहार से आत्मा का बल और स्वास्थ्य कम होता है। दूसरों का हित करने से आत्मा बलवान और स्वस्थ होता है। जब तक आत्मा है तब तक ये नीति नियम हैं। ये नीति नियम किसी के आदेश नहीं, जैसे शारीरिक स्वास्थ्य के नियम किसी के आदेश नहीं। जैसे शरीर के स्वास्थ्य के नियम शरीर की आदर्श अवस्था पर निर्भर हैं, वैसे ही नीति नियम आत्मा की आदर्श अवस्था पर आधारित हैं। इनका ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जब तक आत्मा है तब तक हमें दूसरों को अनुचित हानि पहुंचाने से बचे रहने और दूसरों का हित करने के नीति नियमों पर चलना चाहिए, चाहे ईश्वर हो या न हो।

इसी प्रकार पश्चिम के महान दार्शनिक प्लेटो ने नीति नियमों को इस प्रकार स्पष्ट किया है। उनके अनुसार आत्मा के तीन भाग हैं, तर्क और नीति बुद्धि, संकल्प तत्व और वासनायें। जिस गठन प्राप्त अस्तित्व के भाग होते हैं वह तब तक ही अपनी शक्ति का संगठन बनाये रख सकता है जब तक उसके भाग मिल कर काम करें। यदि भागों में परस्पर विरोध हो तो उस अस्तित्व का जीवित रहना या शक्ति बनाये रखना या संगठित रहना संभव नहीं। यदि आत्मा के यह तीनों भाग मिलकर नीति-बुद्धि के आधीन काम करें तो यह नीति अवस्था आत्मा को बल, स्वास्थ्य और सुख देती है। अच्छे और बुरे व्यवहार का निर्णय इससे होता है कि कौन-सी इच्छा या व्यवहार आत्मा की एकता और उसके फलस्वरूप उसका बल, स्वास्थ्य और सुख बनाए रखता है। स्पष्ट है कि अच्छे और बुरे व्यवहार का सम्बन्ध मनुष्य के अस्तित्व से है, ईश्वर से नहीं।

संक्षेप में हमने यह सिद्ध किया है कि नीति आदेशों और नीति

नियमों का ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं और उसके होने या न होने से नीति आदेशों और नियमों के नीतिपक्ष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जर्मन दार्शनिक कान्ट, जो स्वयं ईश्वर को मानते थे, उनका कहना है कि नीति नियम ईश्वर से पूर्ण स्वतन्त्र हैं। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर के सम्बन्ध में युक्तियों को असंतोषजनक पाकर यह विश्वास करे कि ईश्वर नहीं है और फिर इसके फलस्वरूप यह परिणाम निकाले कि उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं रहा तो ऐसे व्यक्ति को अपनी दृष्टि में अपने आपको अति घृणा योग्य समझना चाहिए। कान्ट के अनुसार कर्त्तव्य का आधार मनुष्य की नीति बुद्धि है।

५

उपरोक्त युक्ति ने नीति आदेशों और नियमों के स्वभाव के आधार पर ईश्वर की स्थापना की थी। इस युक्ति का कहना था कि **आदेश दिए जाते हैं**। इसलिए नीति आदेशों का दाता होगा और वह ईश्वर है। यदि ईश्वर न हो तो कोई नीति आदेश नहीं रह जाते और नैतिकता का अन्त हो जाता है। हमने बताया कि (१) नीति आदेशों को राजनैतिक आदेशों के नमूने पर सोचना मिथ्या है। (२) किसी आदेश का अच्छा या बुरा होना किसी की ओर से आदेश होने के कारण अच्छा या बुरा नहीं हो जाता। उसका अच्छा या बुरापन उसके नीति नियमों पर पूरा उतरने पर है। (३) नीति नियम किसी की ओर से आदेश नहीं। वह मनुष्य के मनोविज्ञान और समाज के स्वास्थ्य के नियम हैं। जैसे शरीर के स्वास्थ्य नियम दिए नहीं जाते, खोजे जाते हैं, इसी प्रकार आत्मा के स्वास्थ्य के नियम अर्थात् नीति आदेश और नियम दिए नहीं जाते, खोजे जाते हैं।

अब हम नीतिपरक युक्ति के एक और रूप का अध्ययन करते हैं।

यह दूसरी युक्ति नीति आदेशों के स्थान पर नीति चेतना के स्वभाव के आधार पर ईश्वर की स्थापना करती है। यह बाह्य नियमों को छोड़ कर आन्तरिक नीति अनुभव द्वारा ईश्वर विश्वास स्थापित करती है। इन ईश्वरवादियों का कहना है कि हम सबकी यह चेतना है कि, 'अमुक काम करना चाहिए' और 'अमुक काम नहीं करना चाहिए'।

हमारी चेतना कुछ कार्यों को करने पर और कुछ को न करने पर आबंध अनुभव करती है। ऐसी चेतना को अन्तःकरण या अन्तर्विवेक (Conscience) या नीति बुद्धि (Practical Reason) या ज़मीर कहते हैं। कुछ अवसरों पर हमारी नीतिबुद्धि कर्तव्य पालन के लिए निजी लाभों के त्याग करने की माँग करती है। उदाहरणार्थ कुछ का अन्तःकरण उनसे मांग करता है कि वे अपने माता-पिता की सेवा करें चाहे ऐसी सेवा से उन्हें कुछ आर्थिक हानि क्यों न होती हो या उनके मनोरंजन में विघ्न क्यों न पड़ता हो। इसी प्रकार कुछ का अन्तःकरण यह भी कहता है कि हमें न्याय करना चाहिए, चाहे विश्व उलट-पुलट क्यों न हो जाये। ऐसी 'चाहिए' या कर्तव्य या 'आबंध' की चेतना का कैसे वर्णन हो? यह चेतना तथ्यों की चेतना नहीं। यह इस प्रकार की चेतना नहीं कि, 'यह मेज़ है' और 'यह कुर्सी है'। यह 'है' की चेतना नहीं, यह 'होना चाहिए' की चेतना है। प्रकृति तो तथ्यों की दुनियां है। इसलिए प्रकृति में 'चाहिए' या 'आबंध' की चेतना का कोई वर्णन नहीं। ऐसी चेतना ईश्वरीय देन है। इसलिए ईश्वर है।

यह आश्चर्यजनक पूर्वाग्रह है कि प्रकृति को बुराई के साथ एक किया जाता है। स्वार्थ को कोई भी ईश्वरीय नहीं समझता। परन्तु परमार्थ को ईश्वरीय समझा जाता है। इसी प्रकार कुरूपता को प्राकृतिक समझा जाता है। परन्तु सुन्दरता को ईश्वरीय समझा जाता है। यह युक्ति इस मिथ्या पक्षपात पर आधारित है। यदि कुरूपता प्राकृतिक है तो सुन्दरता भी प्राकृतिक है। पर्वतों, पक्षियों, फूलों और फलों की सुन्दरता प्राकृतिक है। उसे ईश्वरीय झलक कहना मिथ्या है। इसी प्रकार जैसे स्वार्थ भावना प्राकृतिक है वैसे ही परमार्थिक भावना भी प्राकृतिक है। परमार्थिक भावना समाज के लिए अधिक मूल्यवान है। समाज इस परमार्थिक भावना को धर्म, साहित्य और शिक्षा द्वारा प्रोत्साहित करती है और ऐसी सामाजिक संस्कृति वक्त के साथ आन्तरिक हो जाती है और इसे हम अन्तःकरण या अन्तर्विवेक कहते हैं।

स्वार्थ तथा वासनाएं और परमार्थिक साहित्यिक भावों में परस्पर विरोध से 'चाहिए' की चेतना पैदा होती है। यदि परमार्थ की भावना व्यक्ति के चरित्र के साथ मेल में हो तो वह स्वार्थ भावना के विरोध के

कारण 'चाहिए' या आबंध का रूप लेती है। एक-एक व्यक्ति अपने देश प्रेम के लिए अपना सब कुछ त्याग करने को अपना 'कर्तव्य' या आबंध समझता है। यह कर्तव्य की चेतना या आबंध इसलिए है क्योंकि इस देशभक्त में निजी लाभों की भी प्रवृत्तियां हैं जो उसकी देशभक्ति के लिए त्याग का विरोध करती हैं। स्वाभाविक ही 'त्याग,' कर्तव्य या आबंध बोध होता है। एक कृतज्ञ सुपुत्र अपने माता-पिता के लिए अपने निजी लाभों को त्याग करना अपना कर्तव्य समझता है। क्योंकि वह अपने निजी लाभों को अपने माता-पिता के लाभों से भिन्न करता है। अपने बच्चों के लिए निजी त्याग के लिए स्वतः प्रवृत्ति अनुभव करता है। इस अवस्था में 'चाहिए' 'चाहना' का रूप लेती है। यहाँ पर निजी लाभ और दूसरों के लाभ का भेद मिट जाता है। अब एक पूर्ण स्वार्थी की चेतना लीजिए। उसकी चेतना में उसके स्वार्थ के विरुद्ध कृतज्ञता की परार्थ भावना नहीं, इसलिए उसके मन में कोई मानसिक विरोध उपकारी नहीं। इसलिए वह अपने माता-पिता के सम्बन्ध में कर्तव्य या 'चाहिए' का अनुभव नहीं करता।

संक्षेप में हमने यह समझा कि 'चाहिए' की नीति चेतना, भावों के परस्पर विरोध के कारण है। जहाँ ये विरोध नहीं वहाँ 'चाहिए' या आबंध की चेतना नहीं। जहाँ स्वार्थ, अहम् या अन्य निजी नीच लालसायें न हों, वहाँ 'चाहिए' की चेतना नहीं रहती और 'चाहिए' 'चाहना' में परिवर्तित हो जाता है। 'चाहिए' की चेतना या अन्तःकरण भावों की प्रधानता से निश्चित होता है। यदि प्रधान भाव परमार्थिक हो तो वह शुभकर आदेश देता है। यदि प्रधान भाव स्वार्थ या कठोरता के हो तो वह अशुभकर आदेश देता है। यही कारण है कि अच्छे से अच्छे कर्म भी और बुरे से बुरे कर्म भी कर्तव्य समझे जाते हैं स्पष्ट है कि प्राकृतिक स्तर पर 'चाहिए' की चेतना का वर्णन हो सकता है। ईश्वर की शरण लेने की जरूरत नहीं। इस चेतना के आधार से ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती।

हमारे 'चाहिए' की चेतना का वर्णन शायद ईश्वरवादियों को संतोषजनक न लगे। परन्तु यह उनके अपने वर्णन से ज्यादा संतोषजनक है। हम देख आये हैं कि ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर का अच्छे और

बुरे का भेद उसके मन के आवेग पर है। जब ईश्वर के अच्छे और बुरे के भेद का कोई मौलिक और बौद्धिक आधार नहीं और हमारा अन्तर्विवेक ईश्वर की देन है तो इसके निर्णय आधार-रहित हैं क्योंकि हमारा अन्तर्विवेक ईश्वर के निर्धारित आवेग का प्रकाश मात्र है।

६

इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ विचारक न्यूमैन का कहना है कि हम अपने आपको कई कामों के लिए उत्तरदायी अनुभव करते हैं हम कुछ व्यवहारों के लिए अपने-आपको शर्मसार अनुभव करते हैं और अन्तर्विवेक की आवाज़ के विरुद्ध कार्य करने में भय अनुभव करते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ या आवश्यक आपादन यह है कि एक ओंकार सतनाम ईश्वर है, जिसके आगे हम अपने आपको उत्तरदायी समझते हैं, अपने-आपको शर्मसार पाते हैं और जिसके आदेश के विरुद्ध कार्य करने से डरते हैं। न्यूमैन का कहना ठीक है कि हम अपने-आपको कई कामों के लिए उत्तरदायी अनुभव करते हैं। परन्तु इसका यह बिल्कुल अर्थ नहीं कि हमारे उत्तरदायित्व की कर्त्तव्य-चेतना बिना ईश्वर के वर्णित नहीं हो सकती। या हमारे बुरे कर्मों के लिए शर्मसारी बिना ईश्वर के सम्भव नहीं या नीति नियम के उल्लंघन करने का डर ईश्वर के सिवा वर्णित नहीं हो सकता। न्यूमैन का पालन और शिक्षा ईसाई धर्म में हुए। इसलिए वह ऐसा अनुभव करते थे। उसके नीति अनुभव में ईश्वरवाद की पहले ही मिलावट है। तार्किक दृष्टि से उत्तरदायित्व या कर्त्तव्य चेतना का ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं। हम उनके सामने उत्तरदायी हैं जिनके सम्बन्ध में हमारा कर्त्तव्य है। हम उनके सामने शर्मसार हैं जिनको हमने हानि पहुंचाई है। हम नीति नियमों का उल्लंघन करने से इसलिए डरते हैं क्योंकि ऐसा उल्लंघन हमारे उच्च भावों पर ठेस लगाता है। मैं अपने-आपको अपने बच्चों के आगे उत्तरदायी अनुभव करता हूँ क्योंकि उनके लालन-पालन का कर्त्तव्य मेरे ऊपर है। मैं अपने विद्यार्थियों के सम्बन्ध में उत्तरदायी हूँ जिनकी शिक्षा की जिम्मेदारी मेरे ऊपर है। मैं अपने कुत्ते या बिल्ली के सम्बन्ध में उत्तरदायी अनुभव करता हूँ क्योंकि इनके सम्बन्ध में मैं अपना कर्त्तव्य पहचानता हूँ। जब

मैं अपने बच्चे, विद्यार्थियों या पालतू कुत्ते या बिल्ली के सम्बन्ध में ज़िम्मेदारी नहीं निभाता जिसके फलस्वरूप उन्हें हानि पहुंचती है, तो मैं उनके प्रति शर्मसारी अनुभव करता हूँ। हमारी उत्तरदायित्व की नीति चेतना या दूसरों को हानि पहुंचाने पर शर्मसारी का भाव और अन्य नीति नियमों की पालना का भाव सम्बन्धों में ही अर्थ रखता है। इसका ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं। आओ इस सत्य को ज़रा और अधिक स्पष्ट करें। हम एक दूसरे के साथ सम्बन्धों से जुड़े हुए हैं। पारिवारिक जीवन लीजिए। हम अपने माता-पिता के साथ सम्बन्धित हैं। बहिन-भाइयों के साथ सम्बन्धित हैं। माता-पिता, पति-पत्नी के रूप में एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। हम अपने पड़ोसियों, देशवासियों और मनुष्यमात्र के साथ जुड़े हुए हैं। इन सम्बन्धों में कर्त्तव्य और अधिकार हैं। कर्त्तव्य और अधिकार सम्बन्धों में निहित हैं। यह किसी की ओर से दिए नहीं जाते, खोजे जाते हैं। यह हमारा अधिकार है कि हम जीवित रहें, यह अधिकार किसी का दान नहीं। यह अधिकार समाज ने देना ही है। यह समाज का कर्त्तव्य है कि वह मेरे जीवन का सम्मान करे और मेरा कर्त्तव्य यह है कि मैं दूसरों के जीवन का सम्मान करूं। माता-पिता के लिए बच्चों का पालन-पोषण कर्त्तव्य है और बच्चों का कर्त्तव्य है कि वे अपने माता-पिता के प्रति कृतज्ञ हों। जो-जो हमारे सामाजिक सम्बन्ध हैं उनमें हमारे अधिकार और कर्त्तव्य हैं। जब हम दूसरों की हानि करते हैं तो हम उनको उनके अधिकार से वंचित करते हैं। यदि मैं किसी को मार देता हूं तो मैं उसको जीवन के अधिकार से वंचित करता हूँ। जब मैं किसी की चोरी करता हूँ तो मैं उसको धन-सम्पत्ति के अधिकार से वंचित करता हूं। यदि मुझमें उनके प्रति मैत्रीभाव हो जिनकी मैंने हानि की है तो उनके प्रति शर्मसारी अनुभव करता हूं। स्पष्ट है कि नीति चेतना जो कर्त्तव्य और अधिकारों के रूप में भी प्रस्तुत होती है, उसका जन्म सम्बन्धों में हैं और उसका विकास भी सम्बन्धों में है। उसका ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए उत्तरदायित्व और शर्मसारी की भावना ईश्वर को सिद्ध नहीं करती। हां, यदि ईश्वर हो, तो हमारा उत्तरदायित्व ईश्वर तक भी फैल जाता है और उसकी इच्छा के विरुद्ध काम करने पर हमारी शर्मसारी की भावना उसके

सम्बन्ध में भी प्रकाश पाती है। परन्तु इन सब नीति चेतनाओं का आरम्भ और विकास मनुष्य-सम्बन्धों में है और इनसे आगे पशु-पौधों और जड़ जगत के साथ सम्बन्धों में है। जहां तक उनके आरम्भ, विकास और अर्थ का प्रश्न है, उनका ईश्वर के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं।

७

जर्मन दार्शनिक कान्ट ठीक और ग़लत के भेद को और नीति कर्त्तव्य को ईश्वर से स्वतन्त्र मानता है परन्तु उसने ईश्वर के अस्तित्व को स्थापन करने के लिए एक नीतिपरक युक्ति दी और वह इस प्रकार है। हम सबकी नीति बुद्धि (Practical Reason) या अन्तःकरण यह मांग करता है कि चरित्रवान को सुख भोगना चाहिए। केवल यही नहीं, चरित्रवान को उसकी उच्च अवस्था के **अनुपात** में सुख मिलना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। हमारा अन्तःकरण इस बात पर दुख अनुभव करता है कि दुनिया में ऐसा नहीं है। चरित्र में स्वयं ऐसी कार्यशीलता नहीं कि व्यक्ति को सुख दे। कोई जन कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो उसकी श्रेष्ठता उसे दूसरों की घृणा और बुरे सलूकों से नहीं बचा सकती। हम जानते हैं कि महापुरुषों को कितना बदनाम किया जाता है, पीड़ित किया जाता है। साधारण ईमानदार व्यक्ति दुनिया के सुखों की दृष्टि से कितना पिछड़ा हुआ होता है। हमारी दुनिया की गठन ऐसी नहीं कि चरित्रवान को उसकी उच्च अवस्था के अनुपात में सुख मिले। परन्तु हमारी नीति बुद्धि या अन्तःकरण यह साफ़ देखता है कि दुनिया की वह ही आदर्श अवस्था है जिसमें शुभ और सुख ठीक अनुपात में हों अर्थात् ऐसी दुनिया ही आदर्श दुनिया है कि जिसमें प्रत्येक चरित्रवान अपने चरित्र की श्रेष्ठता के अनुपात में सुख भोगे।

हमारी नीति बुद्धि केवल साफ देखती ही नहीं कि शुभ और सुख में अटट और अनिवार्य सम्बन्ध होना चाहिए, वह हमसे यह मांग भी करती है कि हम ऐसी अवस्था को लाने के लिए पूरा संग्राम करें। हमारी नीति बुद्धि ऐसी अवस्था को लाने को निरपेक्ष कर्त्तव्य (unconditional duty) घोषित करती है। ऐसी आदर्श अवस्था को लाना हमारे

वश में नहीं है तब भी हमारी नीति बुद्धि यह मांग करती रहती है कि ऐसी आदर्श अवस्था को लाना हमारा निरूपाधिक कर्त्तव्य है।

हमारी नीति बुद्धि की यह मांग खोखली होगी यदि हमारे लिए ऐसी आदर्श अवस्था लाना संभव न हो। हमारी नीति बुद्धि की मांग खोखली नहीं हो सकती। यदि हमारी नीति बुद्धि की मांगें खोखली हों तो नैतिकता नहीं रहती। क्योंकि हमारी नीति बुद्धि की यह आदर्श अवस्था सम्बन्धी मांग खोखली नहीं इसलिए ऐसी आदर्श अवस्था संभव है। परन्तु यह अवस्था लाना प्राकृतिक रूप से संभव नहीं। इसलिए यह ऐसे तत्त्वमीमांसा अस्तित्व के द्वारा ही संभव है जो विश्व का सृष्टा हो और जो चरित्रवान को उसकी चरित्र अवस्था के अनुपात में सुख देने की शक्ति रखता हो। ऐसे अस्तित्व का नाम ईश्वर है।

कान्ट की युक्ति के तीन आधार वाक्य हैं :— (1) उस आदर्श अवस्था की **पूर्ण स्थापना** कर्त्तव्य है जिसमें व्यक्ति को उसके चरित्र के अनुपात में सुख मिले, (2) नीति बुद्धि इस आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना को सम्भव बताती है। इसके अभिकथन सच हैं, अन्यथा इसकी माँगें आधार-रहित हो जायेंगी। (3) वास्तव में मनुष्य में शक्ति नहीं कि वह विश्व की घटनाओं को ऐसे संचालित करे कि चरित्रवान को उसके चरित्र के अनुपात में सुख दे सके। इसके अतिरिक्त उसका इंद्रियगत जीवन ऐसे कर्त्तव्य पालन में बाधक है। कान्ट के शब्दों में मनुष्य आदर्श अवस्था को खुद अपने आप नहीं ला सकता। यद्यपि उसकी नीति बुद्धि उसे यह कर्त्तव्य बताती है। इसलिए वह विश्वास करने के लिए मज़बूर हो जाता है कि ईश्वर का अस्तित्व है जिसकी सहायता या प्रबन्ध से इस आदर्श अवस्था की प्राप्ति हो सकती है।

ये तीनों आधार वाक्य असंगत हैं। यदि हम पहले और दूसरे आधार वाक्य मानें तो तीसरा आधार वाक्य ग़लत हो जाता है अर्थात् यदि हम यह मानें कि आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना कर्त्तव्य है और हमारे लिए कर्त्तव्य वही है जिसे हम निभा सकें तो यह ग़लत है कि हम वास्तव में इस कर्त्तव्य को पूरा करने की योग्यता नहीं रखते। इसी प्रकार यदि हम दूसरे और तीसरे आधार वाक्य को सत्य मानें तो पहला आधार वाक्य असत्य हो जाता है। यदि वह ही कर्त्तव्य है

जिसको हम निभा सकें और आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना के कर्त्तव्य को हम नहीं निभा सकते तो यह असत्य है कि आदर्श अवस्था के लाने में पूर्ण सफलता कर्त्तव्य है। यदि हम पहले और तीसरे आधार वाक्य को सत्य मानें तो दूसरा आधार वाक्य असत्य हो जाता है। यदि आदर्श अवस्था के लाने में पूर्ण सफलता कर्त्तव्य है और इसकी पूर्ति हमारे लिए संभव नहीं तो यह असत्य है कि हमारी नीति बुद्धि वह ही कर्त्तव्य-आदेश देती है जिसे हम निभा सकें।

इस असंगत को हटाने के लिए यदि हम इन तीनों में से किसी भी आधार वाक्य को परिवर्तित करें तो कान्ट ईश्वर के अस्तित्व की ज़रूरत को सिद्ध नहीं कर सकता। मान लें हम पहले आधार वाक्य का सुधार करते हैं अर्थात् हम आदर्श अवस्था की पूर्ण सफलता को लाना कर्त्तव्य नहीं समझते परन्तु हम अपना कर्त्तव्य इतना मानते हैं कि जहां तक हमारी शक्ति और आन्तरिक विकास साथ दे वहां तक उसके लिए हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे परिवर्तित कर्त्तव्य में ईश्वर के अस्तित्व की ज़रूरत नहीं रहती क्योंकि ईश्वर की तभी ज़रूरत है जब आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना हमारा कर्त्तव्य समझा जाए और जो हमारे लिए अकेले पूरा करना सम्भव न हो। जब आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना कर्त्तव्य नहीं, केवल उसके लिए प्रयत्न करना ही कर्त्तव्य है चाहे उसकी पूर्ण सफलता हो या न हो, तो ईश्वर की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती। वास्तव में कान्ट के नीतिवाद के अनुसार ठीक व्यवहार ही कर्तव्य है। उसमें सफलता कर्तव्य का निर्णय नहीं करती। इसलिए आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना कर्त्तव्य नहीं हो सकता।

अब दूसरे आधार वाक्य का सुधार कीजिए। यदि हमारी बुद्धि ऐसी आदर्श अवस्थाओं को लाने की भी मांग करती है जो पूरी नहीं हो सकतीं, तो ईश्वर के अस्तित्व की ज़रूरत नहीं रहती, क्योंकि ईश्वर के अस्तित्व की तभी ज़रूरत पड़ी जब हम ने यह अभिकथन किया कि हमारी नीति बुद्धि कोई ऐसी मांग नहीं करती जो असम्भव हो।

अब तीसरे आधार वाक्य का सुधार करें। यदि मनुष्य के लिए आदर्श अवस्था की पूर्ण सफलता सम्भव है तो ईश्वर के अस्तित्व की कोई ज़रूरत नहीं रहती। क्योंकि ईश्वर की तब ही ज़रूरत है जब

आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना मनुष्य के लिए संभव न हो।

कान्ट की ईश्वर के अस्तित्व की स्थापना इन तीन आधार वाक्यों को स्वीकार करने पर है। परन्तु इनका दोष यह है कि ये असंगत हैं और इसलिए ये तीनों सत्य नहीं हो सकते। हमने यह भी देखा कि यदि इन आधारों में से किसी का सुधार करके इन तीनों को संगत करें तो ईश्वर के अस्तित्व की ज़रूरत नहीं रहती।

सरल शब्दों में, जब आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना हमारी शक्ति और चरित्र के लिए सम्भव नहीं तो यह क्योंकर हमारा कर्तव्य हो सकता है? पुनश्च जब विश्व की घटनाओं की ऐसी विधि नहीं कि चरित्रवान को उसकी चारित्रिक अवस्था के अनुपात में सुख मिल सके तो यह क्योंकर हमारा कर्त्तव्य हो सकता है? हमारा कर्तव्य केवल इतना ही है कि जहाँ तक सम्भव हो, वहां तक ऐसी परिस्थितियां पैदा करें कि चरित्रवान को उसकी चारित्रिक अवस्था के अनुपात में सुख मिले। जो कार्य मनुष्य की शक्ति और स्वभाव के लिए और घटनाओं की विधि के अनुसार संभव नहीं वह कर्तव्य नहीं हो सकता। कान्ट भूल में हैं कि आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना ही मनुष्य का कर्तव्य है। जब वह स्वयं मानते हैं कि वास्तव में मनुष्य के लिए ऐसी आदर्श अवस्था स्थापित करना उस की शक्ति और स्वभाव के लिए संभव नहीं।

यदि इस आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना ईश्वर के लिए सम्भव है तो यह उसका कर्तव्य बनता है हमारा नहीं। यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं तो यह किसी का कर्तव्य नहीं बनता। कर्त्ता के बिना कर्तव्य की कल्पना करना आधारपूर्ण नहीं। यह कहना कि 'अमुक कर्त्तव्य है' व्यर्थ बात है जब तक यह न जाना जाए कि किसके लिए यह कर्तव्य है। मान लें यदि प्रकृति की घटनाएँ यह रूप धारण कर लेती हैं कि माता-पिता अजन्मे और अमर हैं और उनके ऐसे शिशु हैं जो सदा ही शिशु रहते हैं तो यह कर्तव्य असम्भव है कि बच्चों को मां-बाप की सेवा करनी चाहिए। यह कर्तव्य तभी सम्भव है यदि शिशु बड़े हो सकें, वरना ऐसा कर्तव्य खोखला है। इसी प्रकार यह कर्तव्य कि आदर्श अवस्था की पूर्ण स्थापना होनी चाहिए व्यर्थ है, जब उसकी पूर्ति संभव नहीं है।

वास्तव में कान्ट के नीतिवाद को ईश्वर की स्थापना की ज़रूरत नहीं। वह कर्तव्य का मूल्य फल से नहीं लगाते। हमारा कर्तव्य ठीक व्यवहार करना है उसका कुछ भी फल क्यों न हो। यदि डाक्टर एक रोगी को उसकी रोग अवस्था से मुक्त करने में पूरा ज़ोर लगाये परन्तु रोगी मर जाये तो डाक्टर के कर्तव्य पालन का मूल उसकी कर्तव्य की तीव्रता और उसके प्रयत्न में है, फल में नहीं। फल में असफलता के ऐसे कारण हो सकते हैं जो व्यक्ति की शक्ति और समझ से बाहर हों। जब कान्ट कर्तव्य की परिभाषा में फल को शामिल नहीं करता तो उसके लिए यह कहना गलत है कि हमारा कर्तव्य आदर्श अवस्था की **पूर्ण स्थापना** है। उसका ऐसा कहना अपने सारे नीतिवाद को झुठलाना है। कान्ट के अनुसार नीति बुद्धि यह बताती है कि क्या ठीक है और उस ठीक व्यवहार को करना कर्तव्य बताती है चाहे उसका फल कुछ न निकले। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य पूरा हो जाता है जब वह ऐसी आदर्श अवस्था को और न कि उसकी **पूर्ण स्थापना** को कर्तव्य रूप में स्वीकार करके उसे करता है।

कान्ट अपनी युक्ति को ईश्वर के अस्तित्व का **प्रमाण** नहीं मानता। वह खुद कहता है कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह युक्ति यदि कुछ सिद्ध करती है तो वह ईश्वर के अस्तित्व को **एक अभ्युपगम** (postulate) के रूप में स्थापित करती है।

ईश्वर को अभ्युपगम रूप में मानने से कोई समस्या हल नहीं होती। कान्ट ने ईश्वर द्वारा नीति के क्षेत्र में यह विरोध या विप्रतिषेध हटाना चाहा कि एक ओर हमारी नीति बुद्धि यह मांग करती है कि ठीक व्यवहार या सद्गुण और सुख के ठीक अनुपात में अनिवार्य सम्बन्ध होना चाहिए और ऐसी अवस्था की पूर्ण स्थापना हमारा कर्तव्य है। और दूसरी ओर हमारी शक्ति और स्वभाव की सीमाएं ऐसा कर्तव्य पूरा करना असम्भव करती हैं, इसलिए ईश्वर की ज़रूरत है। अब ईश्वर को मानने से यह विप्रतिषेध का दोष किस प्रकार मिट जाता है? कान्ट यह भी विश्वास नहीं करते कि इस रचित विश्व में कोई प्रबन्ध है कि व्यक्ति को उसकी चरित्र सफलता के अनुपात में फल मिले। इन परिस्थितियों में किसी व्यक्ति को उसके चारित्रिक जीवन का फल इस जीवन में नहीं

मिल सकता। वह तभी मिल सकता है जब वह इंद्रियातीत जगत का भागी बने अर्थात् ऐसे जगत का भागी बने जिसमें उसके प्राकृतिक गुण नहीं रहते। जब इंद्रियातीत जगत में हमारा शरीर नहीं रहता और इद्रिय-सुख के अनुभव की योग्यता नहीं रहती तो हमारे चरित्र के अनुसार किस प्रकार का सुख हमें उस अवस्था में मिल सकता है? ठीक व्यवहार करने पर व्यक्ति को इस दुनिया में आत्मिक सुख तो मिल गया था, परन्तु जिस बात की कमी थी वह आर्थिक और शारीरिक सुख थे। एक ईमानदार व्यक्ति को अपनी ईमानदारी से आत्मिक सुख तो है परन्तु उसे शारीरिक सुख नहीं मिलते। उसे रहने के लिए अच्छा घर नहीं, पहनने के लिए अच्छे कपड़े नहीं, खाने के लिए अच्छा भोजन नहीं और सामाजिक जीवन में उच्च स्थान नहीं। ईश्वर इस दुनिया में तो कुछ नहीं कर पाता जिससे चरित्रवान को इस दुनिया में चरित्र के अनुपात में सुख मिले। इंद्रियातीत दुनिया में जब आत्मा शरीर रहित है तो उसे व्यवहारिक जीवन के सुख क्योंकर मिल सकते हैं? स्पष्ट है कि ईश्वर को मानकर चरित्र और सुख में जो अनमेल या विप्रतिषेध है वह मिट नहीं पाया, चाहे कर्ता यहां हो चाहे अगली दुनिया में हो। चरित्र और सुख में जो अनमेल है वह तो वहीं का वहीं रहा परन्तु ईश्वर के अस्तित्व के साथ हमारी समस्या दुगनी हो गई। **कान्ट के अनुसार** कार्य कारण का नियम व्यावहारिक दुनिया का नियम है, इंद्रियातीत दुनियां का नियम नहीं। यदि यह सच है तो यह कहना कि इंद्रियातीत जगत में ईश्वर हमें हमारे कर्तव्य पालन के अनुपात में सुख देता है, सत्य नहीं हो सकता क्योंकि इसका अर्थ यह है कि ईश्वर कारण के रूप में कार्य करता है जबकि वह ऐसा नहीं कर सकता।

कान्ट की युक्ति ठीक हो तो भी वह ईश्वर को अभ्युपगम रूप में स्थापित नहीं करती जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वश्रेष्ठ हो। चरित्रवान को उसकी उच्च अवस्था के अनुपात में सुख पहुँचाने के लिए सर्वज्ञानी की ज़रूरत नहीं है, हां, बहुत ज्ञानी की ज़रूरत है; सर्वशक्तिमान की ज़रूरत नहीं, हां बहुत शक्तिमान की ज़रूरत है; इस कार्य को करने के लिए श्रेष्ठ अस्तित्व चाहिए परन्तु सर्वश्रेष्ठ नहीं।

हमने जगत्-कारण-युक्ति और प्रयोजन-युक्ति के अध्ययन में

दिखाया था कि विश्व की रचना के लिए और उसके प्रयोजन के लिए सर्वज्ञानी, सर्वश्रेष्ठ और सर्वशक्तिमान ईश्वर की आवश्यकता नहीं। उन्हीं कारणों से यह युक्ति भी ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वश्रेष्ठ स्थापित नहीं करती।

आखिरी उम्र में कान्ट ने ईश्वर के विचार को अपने नीति सिद्धान्त और तत्त्व मीमांसा के साथ असंगत पाकर छोड़ दिया। यह दुख की बात है कि वह अपनी पुस्तक 'ओपस् पोस्टुमम' (Opus Postumum) पूर्ण न कर पा सके। इस पुस्तक में उन्होंने ईश्वर को **कर्त्ता न माना।** उन्होंने ईश्वर के शब्द का संज्ञा के स्थान पर विशेषण के रूप में प्रयोग किया। जब हम नीति नियम को आबंध के रूप में नहीं परन्तु खुशी-खुशी और स्वतः स्फूर्ति के साथ पालन करते हैं तो हमारा अनुभव ईश्वरीय है। ईश्वर कोई पृथक अस्तित्व नहीं, वह केवल हमारे विशेष प्रकार के नीति अनुभवों का गुण है।

८

आधुनिक अंग्रेज दार्शनिक प्रोफेसर ए० ई० टेलर ने अपनी पुस्तक शीर्षक 'दी फ़ेथ आफ़ ए मोरेलिस्ट' (*The Faith of a Moralist*) में नीति युक्ति को नए रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि मनुष्य की आदर्श जीवन सम्बन्धी नीति मांग तभी पूरी हो सकती है यदि प्राकृतिक जीवन से ऊपर इन्द्रियातीत जीवन हो। प्राकृतिक जीवन कितना ही मूल्यवान क्यों न हो वह संतोषजनक नहीं। उसके इस कथन की इस प्रकार व्याख्या हो सकती है।

प्राकृतिक जीवन उच्च जीवन हो सकता है। हम बौद्धिक शक्तियों के विकास द्वारा वैज्ञानिक, तकनीशियन या दार्शनिक बन सकते हैं। हम सौन्दर्य बोध के विकास द्वारा कलाकार बन सकते हैं। हम अपनी नीति प्रवृत्तियों के विकास द्वारा बहुत उच्च कोटि का जीवन निर्माण कर सकते हैं। चरित्र निर्माण द्वारा हम दूसरे के अधिक भले के लिए अपने निजी लाभ को त्याग करना अपना कर्त्तव्य समझ सकते हैं। हम सत्य-ज्ञान की प्राप्ति, सुन्दरता की रचना व सराहना और दूसरों के भले के लिए जीने को स्वतः मूल्य मानकर उन्हें जीवन के अंग बना सकते हैं।

यह हमारी नीति बुद्धि (Practical Reason) की मांग है कि हम सत्यज्ञान प्राप्ति करें। हम सुन्दरता की सराहना करें और उच्च जीवन को प्राप्त हों। हमारी नीति बुद्धि इन मूल्यों की प्राप्ति को उच्चतम श्रेष्ठ कर्त्तव्य समझती है, यद्यपि उसे पता है कि यह सारा विकास मृत्यु के समय अग्नि या मिट्टी के हवाले हो जायेगा।

प्रो० टेलर का कहना है कि ऐसा प्राकृतिक जीवन जो **समय के आधीन** है वह आत्मा को सन्तोष नहीं दे सकता। समय के आधीन होने के कारण हमारे जीवन में **अपूर्णताओं** का तांता बंधा रहता है और वह **कभी भी** पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। हम क्रमिक रूप से ही सत्यज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं और वह **सदा** ही अधूरा रहता है। हम एक-एक करके ही सद्गुणों को प्राप्त कर सकते हैं और उनका सदा ही अपूर्ण विकास रहता है। यदि मृत्यु के पश्चात् भी जीवन को स्वीकार कर लिया जाए तो भी यह समय का दोष मिट नहीं जाता। परलोक में भी अपूर्णताओं का तांता बंधा रहेगा।

समय का एक और दोष है। समय के साथ हमारा जीवन, चाहे वह इस पृथ्वी पर हो या परलोक में, शक्तियों की शिथिलता से बच नहीं सकता। हम जानते हैं कि बुढ़ापे के साथ हमारी स्मरण शक्ति कमज़ोर हो जाती है। हमारी समझ कमज़ोर रह जाती है। मनुष्य के लिए परलोक का जीवन अमर जीवन नहीं। परलोक में भी हमारी शक्तियां शिथिल हो सकती हैं। समय या परिवर्तन के आधीन जीवन इन दो दोषों से मुक्त नहीं हो सकता अर्थात् वह अपूर्ण जीवन है और वह शिथिलता या मृत्यु को भी प्राप्त हो सकता है। हम मनुष्यों का जीवन कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो वह अपूर्ण है, सदा अपूर्ण है और वह पतन से नहीं बच सकता।

हमारे पूर्वज ऋषि, मुनि, परममुक्ता या मसीहों ने ऐसे जीवन की प्राप्ति की प्रेरणा अनुभव की जो समय से ऊपर हो अर्थात् नित्य हो और जिसमें पूर्ण मूल्यों की पूर्ण उपलब्धि हो। ऐसी प्रेरणा इस बात की साक्षी है कि प्राकृतिक संसार सब कुछ नहीं है और इससे ऊपर नित्य जीवन (Eternal life) की सम्भावना है।

मनुष्य में ऐसे जीवन की प्रेरणा प्राकृतिक नहीं। ऐसी प्रेरणा इस

बात की प्रतीक और साक्षी है कि ऐसा पूर्ण नित्य अस्तित्व है जो हम मनुष्यों में ऐसे नित्य जीवन की प्रेरणा पैदा करता है और हमें अपनी तरफ आकृष्ट करता है। ऐसा पूर्ण नित्य अस्तित्व ईश्वर है। यदि हम पूर्ण नित्य ईश्वर को न मानें तो हम मनुष्य में पूर्ण नित्य जीवन के लिए प्रेरणा, खिंचाव और समर्पण का वर्णन नहीं कर सकते। हम जानते हैं कि किस प्रकार प्रत्येक देश में कई व्यक्तियों ने ऐसी प्रेरणा को अपने त्यागों द्वारा प्राप्त किया और वे सबसे अधिक श्रद्धा योग्य बने।

प्रो० टेलर की युक्ति के दो भाग हैं। प्राकृतिक जीवन की श्रेष्ठता कितनी महान क्यों न हो, यह समय के कारण सदा ही अपूर्ण और शिथिलता के दोष से खाली नहीं ! इसलिए ये हमारी नीति बुद्धि के लिए सन्तोषजनक नहीं। दूसरे हम जीवन में ऐसे आदर्श जीवन की प्रेरणा अनुभव करते हैं जो पूर्ण अनित्य हो। प्रकृतिवाद हमारी इस नित्य जीवन प्रेरणा का वर्णन नहीं कर सकता। पूर्ण नित्य जीवन की प्रेरणा प्राकृतिक परिस्थितियों का फल नहीं हो सकती। ये प्रेरणा ऐसे व्यक्ति द्वारा ही हम में आ सकती है जो स्वयं पूर्ण नित्य जीवन रखता हो। स्पष्ट है कि ईश्वर का पूर्ण नित्य जीवन हमारे पूर्ण नित्य जीवन की प्रेरणा का कारण है।

प्रो० टेलर की युक्ति का दोष यह है कि वह **मनुष्य आदर्श जीवन** की पूर्ण नित्य जीवन में जो परिभाषा देते हैं उसमें उन्होंने जो कुछ सिद्ध करना है उसे पहले ही सम्मिलित कर लिया है। उनके अनुसार मनुष्य पूर्ण नित्य जीवन को प्राप्त करना चाहता है। यह उसके लिए निरपेक्ष आबन्ध (unconditional obligation) के रूप में प्रकट होती है और इसलिए इसकी पूर्ति सम्भव है। यह तभी सम्भव है यदि ईश्वर हो। प्रो० टेलर की युक्ति तभी वज़नदार हो सकती है यदि वह ईश्वर और नित्य जीवन को पूर्व धारण किए बिना यह सिद्ध करे कि हमारे जीवन के लिए क्या आदर्श होना चाहिए और फिर सिद्ध करे कि ऐसा आदर्श ईश्वर के नित्य जीवन पर निर्भर है। नीति बुद्धि की यह मांग कि हमें पूर्ण नित्य जीवन प्राप्त करना चाहिए एक **विशेष संस्कृति** का फल है जिसमें इन्द्रियातीत सिद्धांत छाया हुआ था। जब यह सिद्धांत रग-रग में रस जाए कि इन्द्रिय-दुनियां से ऊपर परिवर्तन रहित और मूल्यपूर्ण

दुनियां है और वह सचमुच हमारा आरम्भ स्थान है और उसमें लौट जाना जीवन की मूलप्रेरणा है, तो नीति बुद्धि का यह रूप लेना स्वाभाविक था। आज जब वैज्ञानिक युग ने इन्द्रिय दुनियां को सत्य घोषित किया है तो आधुनिक नीति बुद्धि यह कोई आदर्श नहीं मानती कि वह पूर्ण नित्य जीवन को प्राप्त हो। प्रो० सी० डी० ब्रॉड[1] के अनुसार यह कहना कि हमारा आदर्श पूर्ण नित्य जीवन को प्राप्त करना है केवल वाक्चतुराई ही है। हमारा कर्तव्य केवल अपनी शुभकर शक्तियों का अधिक से अधिक विकास करना है। यदि नीति बुद्धि की सत्य मांग यह है कि हम उच्च से उच्च जीवन को प्राप्त करें तो भला ऐसे आदर्श की प्रेरणा के लिए पूर्ण नित्य **व्यक्ति** अर्थात् ईश्वर की क्या ज़रूरत है। मुझसे अधिक विकसित ज्ञानी मुझ में ज्ञान की प्रेरणा उत्पन्न कर सकते हैं और सहायता दे सकते हैं। मेरे अपने सात्विक भाव भी मेरे विकास की ज्योति बन सकते हैं। मनुष्य एक-दूसरे की सहायता से ही अपना अधिक से अधिक विकास कर सकता है।

यदि पूर्ण नित्य जीवन की प्रेरणा को नीति का आदर्श मान लिया जाये तो भी ईश्वर सिद्ध नहीं होता। जैन दर्शन पूर्ण नित्य जीवन को आदर्श मानता है और यह मानता है कि उसके तीर्थंकर पूर्ण नित्य जीवन को प्राप्त हुए हैं। यद्यपि यह दर्शन ईश्वर को नहीं मानता।

पुनः इन्द्रियतीतवादी मनुष्य के प्राकृतिक स्वभाव को केवल उसके स्वार्थ भाव के साथ एक करते हैं। यह उनका पक्षपात है कि वह प्रकृति को, जो कुछ बुरा है, उसके साथ एक करते हैं। मनुष्य की उच्च प्रेरणायें या सात्विक प्रेरणायें उसी प्रकार प्राकृतिक हैं जिस प्रकार उसकी स्वार्थ प्रेरणाएं प्राकृतिक हैं। मनुष्य केवल वासनाओं का पुतला ही नहीं उसमें सात्विकता भी है। यह कम व्यापक है और कम बलवान है परन्तु सत्य है। कुछ मनुष्यों में सात्विक भाव ज्यादा प्रबल होते हैं और वह दूसरे मनुष्यों के लिए उत्साह और बल का कारण बनते हैं। वह दूसरों के सात्विक भावों को उभारते या विकसित करते हैं।

---

१. प्रो० सी० डी० ब्रॉड ने टेलर की युक्ति का १९३१ के सैद्धान्तिक मासिक 'माईंड' में ३६४-३७५ पृष्ठ पर बहुत स्पष्ट रूप में खण्डन किया है।

प्रो० टेलर की युक्ति का एक और दोष है कि वह पूर्ण नित्य जीवन के अन्तर्वस्तु को निश्चित रूप से नहीं बता पाए। यही उस नित्य जीवन के आकर्षण और रोमांस का कारण हैं। हम राजनीतिक क्षेत्र द्वारा इस दोष को स्पष्ट करते हैं। आज हम प्रजातन्त्र के दोषों को जानते हैं तो इनसे मुक्ति की कल्पना डिक्टेटरशिप या तानाशाही में करते हैं। हम यह स्वाभाविक विश्वास करते हैं कि डिक्टेटर-शिप में वे दोष न होंगे जो प्रजातन्त्र राज्य में पाए जाते हैं। परन्तु हम भूल जाते हैं कि डिक्टेटरशिप के भी दोष हैं। इतिहास को डिक्टेटर-शिप का अनुभव है और इसलिए उसके दोषों का ज्ञान है। इसलिए हम उस पर इतने मोहित नहीं होते। परन्तु नित्य जीवन का हमें स्पष्ट अनु-भव नहीं और इसलिए उसके दोषों से हम परिचित नहीं। हम प्राकृ-तिक जीवन के दोषों को जानते हैं कि यह सदा ही अपूर्ण रहता है और जो कुछ पूर्णता को प्राप्त होता है उसका भी नाश हो सकता है। इन दोषों के कारण हम पूर्ण नित्य जीवन की प्रेरणा और आकर्षण अनुभव करते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि नित्य जीवन का आकर्षण दूर के ढोल सुहावने के समान हो सकता है। नित्य जीवन के भी दोष हो सकते हैं जिनको न जानने के कारण वह जीवन प्राकृतिक जीवन से ज्यादा मूल्यवान लगता है। नित्य जीवन के दोष ऐसे हो सकते हैं जो प्राकृतिक जीवन को उससे श्रेष्ठ बनाते हों।

नित्यता और श्रेष्ठता एक रूप नहीं। नित्य जीवन नित्य होने के कारण श्रेष्ठ नहीं हो जाता। यदि ईश्वर नित्य है तो शैतान भी नित्य है। अन्तर इतना है कि ईश्वर का स्वभाव श्रेष्ठ है और शैतान का स्व-भाव निकृष्ट है। समय की अधीनता से ऊपर होना कोई श्रेष्ठता प्रदान नहीं करता। समय के आधीन होने के कारण हमारे नीति जीवन में अपूर्णता और शिथिलता के दोष हैं। परन्तु इससे यह अनुमान कैसे निक-लता है कि नित्य जीवन दोषों से खाली है? यह पूर्णतः सम्भव है कि नित्य नीति जीवन में ऐसे दोष हो सकते हैं जो उसे समय के आधीन नीति जीवन से कम मूल्यवान बनाते हों। अतएव नित्य नीति जीवन की प्रेरणा मिथ्या ही नहीं, आदर्श रूप से अनुचित भी हो सकती है। जब नित्य जीवन की प्रेरणा मिथ्या और सर्वश्रेष्ठ नहीं तो इस मिथ्या प्रेरणा से

ईश्वर के अस्तित्व का परिणाम नहीं निकाला जा सकता।

९

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रोफेसर डब्ल्यू०आर० सोरली (W.R. Sorely) ने अपनी पुस्तक 'मौरल वेल्यूज़ एण्ड आईडिया औफ गॉड' (*Moral Values and Idea of God*) में एक और नीति युक्ति दी है। उनके अनुसार नीति बुद्धि उसी प्रकार विश्व का ज्ञान देती है, जिस प्रकार मानसिक बुद्धि विश्व का ज्ञान देती है। हमारी नोति बुद्धि यह बताती है कि विश्व में नीति व्यवस्था है जैसे इसमें भौतिक व्यवस्था है। विश्व की घटनाएं केवल कार्य-कारण ही में जुड़ी हुई नहीं, वह मूल्य-बद्ध भी हैं। जैसे विश्व के भौतिक नियम हैं उसी प्रकार नीति-नियम भी हैं। विश्व में परिवर्तन मूल्यों के नियमों के आधीन हैं। विश्व का गठन और घटनाएं अर्थात् विश्व का इतिहास मनुष्य के नीति और आध्यात्मिक विकास के अनुकूल हैं। अब नीति व्यवस्था या नीति नियम क्यों कर सत्य हो सकते हैं? ये नीति-नियम सत्य हैं चाहे मनुष्य को उनकी जानकारी हो या न हो और चाहे यह नियम मनुष्य के जीवन में साकार रूप में पाये जाते हों या न पाये जाते हों। जब मनुष्य को न तो इन नीति-नियमों का ज्ञान हो और न ही वे उसमें साकार रूप में पाये जाते हों तो यह नीति-नियम नित्य रूप से क्योंकर वस्तुनिष्ठ सत्य हो सकते हैं। ये नियम तभी वस्तुनिष्ठ और नित्य हो सकते हैं, यदि ऐसा नित्य आत्मा हो, जिसको इन नीति-नियमों का सर्वज्ञान हो और जिसमें सब मूल्य पूर्ण रूप से साकार हों। ऐसा अस्तित्व ईश्वर है। इसलिए ईश्वर है।

हम प्रोफेसर सोरली के साथ सहमत हैं कि विश्व में मनुष्य की नीति और आध्यात्मिक विकास के लिए परिस्थितियां हैं। इस पृथ्वी के विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार लाखों वर्षों के विकास की लड़ी में मनुष्य का जन्म हुआ और मनुष्य में किस प्रकार नीति-मूल्यों को अपने जीवन में साकार रूप देने की कुछ योग्यता है परन्तु विश्व में मनुष्य के पतन की भी परिस्थितियां हैं। इस पृथ्वी पर शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के परिवर्तन की परिस्थितियां पाई जाती

हैं, अर्थात वकास और विनाश के नियम सत्य हैं और इन दोनों नियमों में संघर्ष है। यह नहीं कहा जा सकता कि विश्व की सब परिस्थितियां मनुष्य के विकास की परिस्थितियां हैं। ईश्वरवादियों के विश्वास के विरुद्ध एक मूल आपत्ति यह है कि विश्व में व्यर्थ दुख और पतन की उपस्थिति सर्वदयालु, सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान ईश्वर के साथ असंगत है। विश्व में कठोरता और पतन को किसी भी युक्ति के जादू से लुप्त नहीं किया जा सकता। ईश्वरवादियों का ऐसा प्रयत्न असफल हुआ है। पाठकगण इस सम्बन्ध में इस पुस्तक के १७ वें अध्याय में ईश्वरवादियों की असफलता का विस्तार पूर्वक वर्णन पायेंगे।

प्रोफेसर सोरली की युक्ति का दूसरा दोष यह है कि किसी नियम का वस्तुनिष्ठ अथवा सत्य होना उसके जानने पर निर्भर नहीं करता। मनुष्य को न्यूटन से पहले खिचाव के नियम का ज्ञान न था। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि यह नियम न्यूटन के खोजने से पहले वस्तु-निष्ठ न था। किसी नियम का वस्तुनिष्ठ होना एक चीज़ है और उसका ज्ञान दूसरी चीज़ है। ज्ञान किसी नियम को वस्तुनिष्ठता प्रदान नहीं करता। नियम ज्ञान पर निर्भर नहीं हैं। ज्ञान नियम पर निर्भर है।

यदि पाठकगणों ने नीति नियमों के स्वभाव के सम्बन्ध में बताई हुई सच्चाई समझ ली हो तो वे कहेंगे कि प्रोफेसर सोरली इस भूल में हैं कि नीति नियम किसी की ओर से आदेश हैं। नीति नियम आदेश नहीं, वे मनुष्य की आतमा और समाज के स्वास्थ्य के नियम हैं। इनके आबंध का अनुभव मनुष्य की अविकसित अवस्था का चिह्न है।

आज का विज्ञान यह बताता है कि भौतिक व्यवस्था स्वचालित है। इसी प्रकार नीति व्यवस्था भी स्वचालित है। जैसे शरीर के स्वास्थ्य के नियम स्वचालित हैं वैसे ही मनुष्य की आतमा के नियम अर्थात् नीति नियम स्वचालित हैं। भौतिक और नीति नियम वस्तुओं के बनने और बिगड़ने से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे ईश्वर को भौतिक नियमों का दाता नहीं समझा जाता उसी प्रकार उसे नीति नियमों का दाता समझना मिथ्या है। विश्व की भौतिक और नैतिक व्यवस्था के लिए ईश्वर की प्राक्कल्पना की आवश्यकता नहीं। इसलिए ईश्वर के अस्तित्व को नीति व्यवस्था के आधार पर स्थापित नहीं किया जा सकता।

हमने नीति युक्ति के कुछ रूपों को लिया और वे ये हैं (i) नीति, नीति आदेशों का नाम है और आदेश घोषित किए जाते हैं। नीति आदेश ईश्वर की घोषणा है इसलिए ईश्वर है। (ii) मनुष्य में 'चाहिए' और 'न चाहिए' की चेतना का वर्णन प्रकृतिवाद नहीं कर सकता। इसका वर्णन ईश्वर है। (iii) हमारी नीति बुद्धि की यह मांग है कि सद्‌गुणी को उसके सद्‌गुण की मात्रा में सुख मिलना चाहिए। यह प्रकृति में सम्भव नहीं। यह तभी सम्भव है यदि ईश्वर हो जो इन्द्रियातीत दुनिया में सद्‌गुणों के लिए उनके अनुपात में सुख दे। इसलिए ईश्वर है। (iv) हमारी नीति बुद्धि की एक और प्रेरणा यह है कि हम मूल्य के पूर्ण और नित्य अवस्था को प्राप्त करें। (v) हमारी नीति बुद्धि हमें यह बोध कराती है कि विश्व नीति व्यवस्था है। इसका वर्णन ईश्वर है।

इनमें से कोई भी युक्ति ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करती। (i) नीति आदेश घोषणा द्वारा नैतिक नहीं बन जाते। वे आदेश नैतिक तब होते हैं जब नीति नियम के अनुसार हों। नीति नियम किसी की घोषणा नहीं। ये नियम मनुष्य के आत्मिक स्वास्थ्य और सामाजिक स्वास्थ्य के नियम हैं। जैसे शरीर स्वास्थ्य के नियम घोषित नहीं किए जाते, खोजे जाते हैं वैसे ही नीति नियम घोषित नहीं किए जाते खोजे जाते हैं। (ii) 'चाहिए' की नीति चेतना हमारे उच्च और नीच भावों के विरोध द्वारा जन्म लेती है। दया का भाव कठोर व्यवहार की प्रेरणा का विरोध करता है। परोपकार की भावना व्यक्ति को दूसरे के भले के लिए अपने निजी लाभ के त्याग करने को कर्त्तव्य बताता है (iii) हमारा नीति कर्त्तव्य सद्‌गुण और सुख में पूर्ण मेल या पूर्ण सफलता प्राप्त करना नहीं। हमारा कर्त्तव्य केवल अपनी शक्ति के अनुसार ऐसी अवस्था के लिए यत्न करना है। इसलिए ऐसा कर्त्तव्य पालन ईश्वर के होने की मांग नहीं करता या यूं कहो कि वह तार्किक रूप से ईश्वर को सिद्ध नहीं करता। (iv) यह कहना कि हमारा आदर्श पूर्ण नित्य जीवन को प्राप्त करना है बढ़ा-चढ़ा कर बात करना है। हमारा कर्त्तव्य केवल अपनी शुभकर योग्यताओं और भावों को उनकी विकास योग्यता के अनुसार विकसित करना है। इसके लिए तत्त्व-

मीमांसक नित्य जीवन या ईश्वर की तार्किक ज़रूरत नहीं। (v) जैसे विश्व की शारीरिक व्यवस्था के लिए ईश्वर की ज़रूरत नहीं वैसे ही नीति व्यवस्था के लिए ईश्वर की ज़रूरत नहीं।

सब नीति तथ्य ईश्वर के बिना वर्णित हो सकते हैं। इनके वर्णन में ईश्वर की ज़रूरत नहीं और जब नीति तथ्यों के वर्णन में ईश्वर की तार्किक ज़रूरत नहीं तो वे ईश्वर को सिद्ध नहीं करते।

: १२ :

धर्म तथा रहस्य अनुभव द्वारा ईश्वर की सिद्धि

कुछ ईश्वरवादियों का कहना है कि ईश्वर साक्षात् अनुभव की चीज़ है, अनुमान का विषय नहीं। हमारे धर्म अनुभव इतने गहरे, इतने महत्वपूर्ण, इतने मूल्यवान, इतने अर्थपूर्ण और जीवन परिवर्तक होते हैं कि इनका कोई भी प्रकृतिवाद या नेचरवाद वर्णन नहीं कर सकता। इन धर्म अनुभवों के बारे में यही कहा जा सकता है कि यह ईश्वर प्रेरित तथा उत्तेजित हैं। ईश्वर के अस्तित्व को माने बिना ऐसे धर्म अनुभवों का कोई वर्णन नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर है।

१

इस युक्ति में दो शब्द हैं जिनकी परिभाषा आवश्यक है अर्थात् 'धर्म अनुभव' और 'ईश्वर'। यदि कोई ईश्वरवादी कहे कि ईश्वर से उसका अर्थ केवल गहरे और अर्थपूर्ण अनुभवों से है तो हमारी उससे कोई शिकायत नहीं। इससे एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वश्रेष्ठ ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि ईश्वर केवल अति मूल्यवान अनुभव के रूप में एक अर्थ है। उदाहरणार्थ महात्मा बुद्ध का 'बौद्ध अनुभव' अति गहरा, अति महत्वपूर्ण और अति मूल्यवान धर्म-अनुभव था। परन्तु इस अनुभव का प्रकट विषय सर्वज्ञानी, सर्वशक्तिमान और सर्वश्रेष्ठ ईश्वर न था। उनके क्रान्तिपूर्ण धर्म-अनुभव से ईश्वर की स्थापना नहीं हुई। जब हम ईश्वर का अति महत्वपूर्ण अनुभवों के साथ एक रूप करते हैं तो हम ईश्वर की परिभाषा भूल जाते हैं और इसके फलस्वरूप ईश्वर की सिद्धि में असफल रहते हैं। वास्तव में कोई भी ईश्वरवादी ईश्वर की ऐसी परिभाषा नहीं देगा। वे ही लोग ईश्वर को विशेष मूल्यवान अनु-

भवों के साथ एक अर्थ करते हैं जो ईश्वर को नहीं मानते। परन्तु ईश्वर के शब्द के प्रयोग को बनाए रखना चाहते हैं। ईश्वर की परिभाषा एक ही है कि वह एक और केवल एक ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वश्रेष्ठ अस्तित्व है। वह किसी मूल्यवान अनुभव का विशेषण नहीं।

धर्मानुभव की क्या परिभाषा हो जिसको ईश्वर सिद्धि में अर्थपूर्ण रूप से प्रयोग किया जाये ? धर्मानुभव की परिभाषा धर्मानुभव के विषय से भिन्न होनी चाहिए अन्यथा उसके द्वारा ईश्वर की स्थापना नहीं होती। मान लो हम कहते हैं कि धर्मानुभव वह है जिसमें ईश्वर का अनुभव होता है। यदि धर्मानुभव ईश्वर अनुभव का दूसरा नाम है तो यह कहना कि 'धर्मानुभव हुआ', का अर्थ यह है कि ईश्वरानुभव हुआ। इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि 'ईश्वर है' क्योंकि 'ईश्वर है' का अर्थ यह रह जाता है कि ईश्वर का **अनुभव** है। परन्तु 'ईश्वर है' का अर्थ यह नहीं कि उसका **अनुभव** है। 'ईश्वर है' का अर्थ है कि ईश्वर का अस्तित्व है, वह सब अनुभवों से पहले है, वह सब अनुभवों से स्वतंत्र है, वह 'है', चाहे किसी ने उसका अनुभव किया हो या नहीं। धर्मानुभवों की परिभाषा ईश्वर अनुभव से भिन्न होनी चाहिए। इसकी पुष्टि धर्मानुभवों का इतिहास है। धर्मानुभवों की परिभाषा ईश्वरानुभव नहीं क्योंकि महात्मा बुद्ध और जैन तीर्थंकरों तथा चीन के धर्म संस्थापकों के धर्मानुभव ईश्वर अनुभव नहीं हैं परन्तु धर्मअनुभव ज़रूर हैं।

२

यदि धर्मानुभव से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना हो तो धर्मानुभव और ईश्वर की अलग-अलग परिभाषा होनी चाहिए। धर्मानुभव एक चीज़ है और ईश्वर का अस्तित्व दूसरी चीज़ है। हमें यह सिद्ध करना है कि धर्मानुभव अपने से पृथक अस्तित्व ईश्वर का अनुभव देता है, जिस प्रकार साक्षात् इन्द्रियानुभव हमें मेज़ या कुर्सी का अनुभव देता है। जैसे हम साक्षात् इन्द्रियानुभव द्वारा जानते हैं कि हमें अनुभव से पृथक किसी अस्तित्व का ज्ञान हो रहा है, वैसे ही ईश्वरवादियों को यह सिद्ध करना है कि हम धर्मानुभव द्वारा जानते हैं कि हमें अनुभव से पृथक ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होता है।

अब धर्मानुभव की क्या परिभाषा हो? ऐतिहासिक दृष्टि से धर्मानुभव की कोई सन्तोषजनक परिभाषा नहीं। भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में घोषित किए हुए धर्म अनुभव इतने अस्पष्ट या अनिश्चित हैं, इतने बहुरूपक और भिन्न हैं कि इनमें कोई समान अंश नहीं पाया जाता। इन अनुभवों द्वारा ईश्वर सिद्ध नहीं होता। एक सनातन धर्मी का अनुभव देवी-देवताओं या शिव या विष्णु या गणेश को सिद्ध करता है। एक आर्य या ब्रह्मोसमाजी का धर्मानुभव एक और केवल एक पुरुष रूपी ईश्वर को सिद्ध करता है। एक वेदान्ती ऐसे सब अनुभवों को मिथ्या कहता है। उसके लिए देवी-देवताओं का धर्म अनुभव मिथ्या है। ईश्वर का पुरुष रूप में अनुभव मिथ्या है। वास्तव में धर्मानुभव अद्वैत अनुभव है। जिसमें मनुष्यात्मा ईश्वर की आत्मा से कोई भिन्न अस्तित्व नहीं रखता। आस्तिक धर्म के संस्थापकों के ईश्वर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अनुभव हैं।

अब इन धर्मानुभवों को एक साथ क्यों न स्वीकार कर लें और इन्हें ईश्वर की सिद्धि क्यों न मान लें? ये धर्मानुभव **परस्पर विरोधी** हैं। ईसाई धर्म के महान रहस्यवादी डा० डब्ल्यू० आर० इन्ज (Dr. W. R. Inge) का कहना है कि धर्मानुभव के **ऊंचे से ऊंचे** स्तर पर **भी** ईश्वर को मनुष्यात्मा से पूर्ण पृथक और भिन्न अनुभव करता है। मनुष्यात्मा और ईश्वर में भिन्नता और पृथकता कभी और किसी हालत में भी नहीं मिट जाती। डा० डब्ल्यू० आर० इन्ज अपने एक लेख में जो उन्होंने **'दि फिलासफी ग्राफ राधाकृष्णन'** में दिया है, लिखते हैं, "रहस्यानुभव के शिखर पर भी हमारी अवस्था यह रहती है कि हम ईश्वर को पुरुष रूप में अनुभव करते हैं। यदि ईश्वर समाधि अवस्था में साधारण अर्थों में पुरुष नहीं तब भी 'मैं' और 'तू' अर्थात दो का भेद कभी नहीं मिट जाता। इसी प्रकार सेंटपाल (St. Paul) (जो मसीह से दूसरे नम्बर पर 'ईसाईधर्म' के नेता माने जाते हैं) का कहना है, कि हमारा आत्मा ईश्वर को पुरुष रूप में ही संगत करता है। जब हम ईश्वर की सुन्दरता पर मोहित होते हैं तो हम अपनी ही सुन्दरता पर मोहित नहीं हो रहे

और न ही हम **कभी भी** ब्रह्म में समा जाते हैं।"[1] परन्तु वेदान्ती ऐसे उच्चतम ईसाई अनुभव को अपूर्ण और निम्न कोटि का अनुभव कहते हैं। उनके अनुसार भिन्नता के सब अनुभव माया हैं, मिथ्या हैं। डा० राधाकृष्णन कहते हैं, "रहस्यानुभव में हम ब्रह्म में समा जाते हैं। काल की व्यावहारिक दुनिया समाप्त हो जाती है और हम अपना पृथक अस्तित्व खो बैठते हैं।"[2] इससे आगे महात्मा बुद्ध का अनुभव है जिसमें न सगुण ईश्वर न निर्गुण ब्रह्म की उपस्थिति है। डा० राधाकृष्णन, महात्मा बुद्ध के रहस्यानुभव के विषय में लिखते हैं, "महात्मा बुद्ध आत्मिक अनुभव या रहस्य अनुभव की सत्यता में विश्वास रखते थे परन्तु वह इस अनुभव को अपने से बाहर **किसी अस्तित्व** का सूचक नहीं मानते थे।[3] जिसका अर्थ यह है कि रहस्यानुभव किसी ईश्वर या ब्रह्म का सूचक नहीं है, वह केवल मन की अवस्था का अनुभव है। अब इन उच्च स्तर के धर्म अनुभवों की विपरीतता को कैसे सुलझाया जाये? **केवल अनुभवों** के आधार पर तो इसको सुलझाया नहीं जा सकता।

जब प्रत्येक धर्मानुभव अपनी सच्चाई का आप साक्षी है तो मानना पड़ेगा कि इन अनुभवों में जो विषय और उसके गुण प्रकट होते हैं वे सत्य ही हैं। यदि धर्मानुभव ईश्वर के सम्बन्ध में विरोधी विचार प्रकट करते हैं तो वे किस तरह ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं?

३

ईश्वरवादियों का कहना है कि ईश्वर के अनुभव एक समान हैं परन्तु इन अनुभवों के **अर्थ वर्णन** भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और धर्मों ने अलग-अलग किए हैं। धर्मानुभवों का भिन्न-भिन्न अर्थ वर्णन अनुभव-कर्ता की भिन्न-भिन्न संस्कृति, शिक्षा और समझ से निश्चित होता है।

---

१. सम्पादित पी.ए. सिक्लिप **'दि फिलासफी आफ डाक्टर राधाकृष्णन'**, पृष्ठ ३२६।
Edited, P.A. Schlipp *"The Philosophy of Dr. Radhakrishnan"* p. 326.

२. डाक्टर राधाकृष्णन : **'दि आईडियलिस्ट व्यू ऑफ लाईफ़'**, पृष्ठ ३४०, ५६।
Dr. Radhakrishnan : *'The Idealist View of Life'* pp. 340, 56

३. डा० राधाकृष्णन अपनी पुस्तक **'दि स्पिरिट ऑफ मैन'** में २७० पृष्ठ पर
Dr. Radhakrishanan : *'The Spirit of Man'* p. 270.

यदि हम धर्मानुभवों से संस्कृति, शिक्षा और समझ के भेद हटा दें तो ये सब धर्मानुभव एक ईश्वर के होंगे।

यह हमारी समस्या का उत्तर नहीं है। जब धर्म के अनुभव भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी हैं तो वे ईश्वर की सिद्धि क्योंकर करते हैं? यदि हम धर्मानुभवों से संस्कृति, शिक्षा और समझ के प्रभाव हटालें तो जो ईश्वर का विचार या अवधारण रहता है वह न के बराबर है। ऐसे ईश्वर को हम पूर्ण प्रेम युक्त नहीं मान सकते। यहूदी धर्म वाले ईश्वर को क्रोधपूर्ण मानते हैं। ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ नहीं मान सकते क्योंकि कुछ ईश्वरवादी ईश्वर में बुराई भी मानते हैं। ईश्वर को सर्वशक्तिमान नहीं मान सकते, कुछ आस्तिक ईश्वर को सीमित शक्ति वाला मानते हैं। ईश्वर को 'पुरुष' की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि कई विचारक उसे 'अपुरुष' मानते हैं। अब शायद हम इतना कह सकते हैं कि ईश्वर एक शक्ति है परन्तु यह गुण भी हम उसे नहीं दे सकते। कई आस्तिक देवी-देवताओं का धर्मानुभव करते हैं और ये देवी-देवता पृथक्-पृथक् शक्तियां रखते हैं। यदि हम धर्मानुभव के इतिहास को लें और उसमें आदि जाति के धर्मानुभव भी सम्मिलित करें तो पता लगेगा कि इन सब अनुभवों में कोई समान अंश नहीं है। आदि जाति के धर्मानुभवों में अधिकतर ऐसे अस्तित्वों के अनुभव हैं जो मनुष्य के समान शरीर रखते हैं और उनमें से कुछ बुरी शक्तियों के प्रतिरूप हैं। इन आरम्भिक अनुभवों से लेकर वेदान्त के अनुभवों तक यदि हम सारे इतिहास का सर्वेक्षण करें तो पता लगेगा कि धर्मानुभवों के विषय में कोई समानता नहीं। यदि ईश्वर का अर्थ वह अस्तित्व है जो धर्मानुभवों में पाया जाता है तो यह अर्थरहित शब्द मात्र है जिसका लक्ष्य करता हुआ कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।

कई ईश्वरवादी दूसरी विधि से धर्मानुभव द्वारा ईश्वर की सिद्धि करते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक धर्मानुभव ईश्वर की साक्षी नहीं देता। बहुत से धर्मानुभव ऐसे हैं जो परस्पर विरोधी और निकृष्ट प्रकार के हैं। हमें केवल उन धर्मानुभवों को लेना चाहिए जो बड़े-बड़े धर्मों के संस्थापकों ने किए हैं। इन अनुभवों द्वारा ईश्वर की सिद्धि हो सकती है। यह विधि भी सफल नहीं है। बड़े-बड़े धर्मों के संस्थापकों के धर्मानु-

भव एक समान नहीं। उन्होंने जो ईश्वर के गुण बताए हैं वे एक समान नहीं। उन्होंने जो ईश्वर की ओर से आदेश कहे हैं वे भी भिन्न-भिन्न हैं। जब इन धर्म संस्थापकों के ईश्वर के गुणों और शिक्षा के सम्बन्ध में विपरीत विचार हैं तो उनके धर्मानुभव ईश्वर के अस्तित्व को क्योंकर सिद्ध करते हैं? एक ही अस्तित्व के विपरीत गुण और विपरीत विचार नहीं हो सकते। यह कहना कि ईश्वर पुरुष भी है, और अपुरुष भी है, सीमित भी है और असीमित भी है, विश्व में समाया हुआ भी है और उससे पृथक अस्तित्व भी है, तर्क की दृष्टि से मानने योग्य नहीं है। जादू के लिए सब कुछ सम्भव है।

हमने अब तक केवल ऐसे रहस्य अनुभव लिए जिसमें अनुभवकर्ता देवी देवता या ईश्वर या ब्रह्म के अनुभव करने की घोषणा करते हैं। परन्तु धर्म अनुभव ऐसे अनुभवों तक सीमित नहीं। ऐसे भी रहस्य अनुभव हैं जो नास्तिक हैं अर्थात् ऐसे भी अनुभव हैं जिनमें अनुभवकर्ता का यह अनुभव होता है कि विश्व में प्रधान रूप से बुरी शक्तियाँ संचालक हैं और विश्व में अच्छे उद्देश्यों के लिए कोई जगह नहीं। कई रहस्य अनुभव ऐसे हैं जिनमें ईश्वर का नामोनिशान नहीं। महात्मा बुद्ध का रहस्य अनुभव जिससे वह 'बुद्ध' बन गए उसमें ईश्वर का नाम तक नहीं। उस अनुभव में उन्हें चार आर्य सत्यों और अष्टांगिक मार्ग का प्रकाश हुआ। इन चार आर्य सत्यों और अष्टांगिक मार्ग में ही उन्होंने विश्व के रहस्य का उजाला समझा और मनुष्यमात्र ने उन्हें 'देदीप्यमान' का सुशोभित नाम दिया। ये आर्य सत्य दुख के सम्बन्ध में सच्चाईयां हैं और अष्टांगिक मार्ग दुख से निर्वाण की विधि है। यही बात जैन धर्म के तीर्थंकरों के धर्मानुभवों के बारे में सत्य है। उनके अनुभवों में विश्व के सृष्टा का कोई अनुभव नहीं। ईश्वर से एकता अथवा भिन्नता का कोई अनुभव नहीं। अब किसके धर्मानुभव को माना जाये और किसको नहीं, जबकि प्रत्येक धर्मानुभव अपनी सच्चाई का साक्षी आप है? महात्मा बुद्ध का धर्मानुभव अगर अपनी सच्चाई का आप साक्षी हैं तो हम धर्म या रहस्य अनुभव को ईश्वर का साक्षी नहीं मान सकते। इतिहास में दो प्रकार के धर्मानुभव हैं, एक प्रकार के अनुभवकर्ता यह घोषणा करते हैं कि उनका साक्षात् ईश्वर के साथ सम्पर्क है तो दूसरे यह कहते हैं कि उनके

अनुभव में ईश्वर की कोई जगह नहीं। इन विपरीत धर्मानुभवों के होते हुए, धर्मअनुभव के आधार पर, ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि क्योंकर हो सकती है ?

४

वास्तव में किसी प्रकार का अनुभव भी अपने अनुभूत विषय का साक्षी आप नहीं। किसी अनुभव का विषय बाहरी दुनियां का अस्तित्व है या नहीं, यह अनुभव स्वयं स्वतन्त्र रूप में निश्चित नहीं कर सकता। यदि कोई शराबी कहे कि वह अपने प्याले में दौड़ते हुए हरे घोड़ों का अनुभव कर रहा है तो हम उसकी निष्कपटता पर शक नहीं कर सकते और न ही उसके अनुभव पर शक कर सकते हैं। उसका अनुभव ज़रूर दौड़ते हुए हरे घोड़ों का है। शराबी अपने अनुभव के बारे में जो कुछ कहता है उसका साक्षी वह ही है और उससे बाहर और कोई नहीं। यह पूर्णतया सत्य हो सकता है कि शराबी ने दौड़ते हुए हरे घोड़ों का अनुभव किया है। उसका ऐसा वर्णन उसके अनुभव के बारे में सत्य है। परन्तु यदि शराबी यह कहे कि बाहरी दुनियां में दौड़ते हुए हरे घोड़े हैं तो वह अपने अनुभव के बारे में कुछ नहीं कह रहा। वह यह नहीं कह रहा कि मैं दौड़ते हुए हरे घोड़े का अनुभव कर रहा हूं। वह यह कह रहा है कि बाहरी दुनिया में दौड़ते हुए हरे घोड़े हैं चाहे मैं उनका अनुभव करूं या न करूं। जब शराबी बाहरी दुनिया के बारे में कोई वक्तव्य देता है तो उसकी सच्चाई केवल उसका निजी इन्द्रिय अनुभव नहीं। अनेक बाह्य कसौटियां हैं जिनके प्रयोग द्वारा हम यह जानते हैं कि कोई निजी इन्द्रिय अनुभव कहां तक मिथ्या या सत्य है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति यह कहे कि वह ईश्वर का अनुभव कर रहा है तो हम उसकी निष्कपटता पर शक नहीं करते—जो कुछ वह अपने अनुभव के बारे में कह रहा है उस पर शक नहीं करते। याद रहे कि इस निजी अनुभव दृष्टि से या आत्मनिष्ठ (Subjective) दृष्टि से, आदि मनुष्य का धर्मानुभव उतना ही सत्य है जितना ब्रह्मवादी या ईश्वरवादी का अनुभव सत्य है। परन्तु जब कोई व्यक्ति कहे कि ईश्वर है तो वह अपने अनुभव के बारे में कुछ नहीं कह रहा। उसका कहना है कि ईश्वर है चाहे उसके बारे में किसी

भी मनुष्य का अनुभव न हो। उसका वाक्य बाहरी संसार के बारे में ही है। इस वाक्य की सच्चाई निजी अनुभव सिद्ध नहीं करती। बाह्य कसौटियां ही इसका निर्णय कर सकती हैं कि कहां तक ऐसा अनुभव सत्य है। हम ने इससे पूर्व चार अध्यायों में ईश्वरवादियों की तार्किक युक्तियों का अध्ययन किया है जिसके द्वारा वह ईश्वर के अस्तित्व को स्थापित करने का यत्न करते हैं। हमने देखा कि ये युक्तियां ईश्वर को सिद्ध नहीं करतीं। यदि तथ्य और तर्क ईश्वर को सिद्ध नहीं करते तो ऐसे अनुभव जिसमें ईश्वर की अनुभूति समझी जाती है वे उसी प्रकार मिथ्या हैं जिस प्रकार एक बच्चे का हौवे का अनुभव मिथ्या है।

५

यह सत्य दोहराने योग्य है कि कोई भी अनुभव अपने विषय की निष्ठता का साक्षी अपने आप नहीं। यह बात केवल हम ही नहीं कहते परन्तु ईश्वरवादी भी कहते हैं जब वे आदि धर्म या सनातनधर्म के देवी देवताओं के धर्मानुभवों का खण्डन करते हैं। **केवल आत्मनिष्ठ दृष्टि** से आदि मनुष्य के धर्मानुभव तथा ईसाईयों, मुसलमानों या वेदान्तियों के धर्मानुभव सब **एक स्तर** पर हैं। ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से यह सब अनुभव आत्मनिष्ठ (Subjective) हैं। आदि मनुष्य अपने अनुभव के प्रति उतना ही आश्वस्त है जितना एक ईश्वरवादी अपने अनुभव के प्रति आश्वस्त है। उसका अनुभव उतना ही तीव्र है जितना ईश्वरवादी का। वह उसे उतना ही विषयनिष्ठ मानता है जितना ईश्वरवादी। वह अपने अनुभव द्वारा उतनी ही शान्ति और सामञ्जस्य का अनुभव करता है जितना एक ईश्वरवादी। ईश्वर या ब्रह्म अनुभव में कोई भी **अनुभव सम्बन्धी लक्षण नहीं** जो उसे आत्मनिष्ठ स्तर से उठाकर विषय निष्ठ या **बाह्य अस्तित्व** का सूचक सिद्ध करे और आदि धर्मानुभव को केवल आत्मनिष्ठ ही बनाए रखे। इन अनुभवों में मनोवैज्ञानिक रूप से आकार भेद नहीं, केवल विषय सम्बन्धी भेद है। एकेश्वरवादी सनातनधर्मी के धर्मानुभवों का खण्डन करते हैं कि कोई देवी-देवता नहीं हो सकता। और उसका धर्मानुभव मिथ्या है। परन्तु इस खण्डन या टीका का आधार यह नहीं कि सनातनधर्मी ने देवी-देवता का अनुभव नहीं किया।

किसी के अनुभव की कोई टीका नहीं हो सकती क्योंकि अनुभव का एक ही साक्षी है और वह है अनुभवकर्ता। एकेश्वरवादी सनातनधर्मी के अनुभव का अनुभव रूप में खण्डन नहीं करते या उसको झूठा नहीं बताते परन्तु वे बाह्य कसौटियों से यह सिद्ध करते हैं कि देवी-देवता नहीं हो सकते और सनातनधर्मी का देवी-देवताओं के प्रति अनुभव उसी तरह से मिथ्या है जैसे कोई रस्सी को सांप समझ ले या कोई यह समझ ले कि उसे माता जी ने बुलाया है, जबकि उसको किसीने नहीं बुलाया। यदि एकेश्वरवादी किसी सनातनधर्मी के अनुभव को बाह्य कसौटियों के आधार पर मिथ्या ठहराते हैं तो उन्हें यह मानना पड़ेगा कि **उनका** ईश्वरानुभव या ब्रह्म **अनुभव** ईश्वर या ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता, जैसे सनातनधर्मी का देवी-देवता के सम्बन्ध में किया **गया अनु-भव** देवी-देवता के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता। कोई भी अनुभव हो, चाहे वह इन्द्रियानुभव हो, चाहे धर्मानुभव हो, उसके जानने के लिए कि कब वह बाह्य अस्तितवों का सूचक है, उसकी कसौटियां ढूँढनी पड़ती हैं। किसी इन्द्रियानुभव की सत्यता जानने के लिए कई कसौटियाँ हैं। यदि कोई कहे कि झाड़ी में सांप है तो हम सब जानते हैं कि उसके अनुभव को सत्य या मिथ्या परखने की कसौटियां हैं। धर्मानुभव या रहस्यवाद का दोष यह है कि वे परखने की कोई सन्तोषजनक कसौटियां नहीं बताते। ईश्वरवादी इन्द्रियानुभव की उपमा पर कुछ कसौटियां बताते हैं, परन्तु वे सब खण्डन योग्य हैं। ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वरानुभव वास्तव में ईश्वर का ही अनुभव है क्योंकि (१) यह लाखों मनुष्यों का अनुभव है जो अलग-अलग देश और संस्कृति से सम्बन्ध रखते हैं। यह इन्द्रियानुभव की न्याईं सर्व साधारण अनुभव है। (२) इन लाखों ईश्वरानुभव कर्त्ताओं में से अच्छी संख्या में ऐसे लोग हैं जो उच्च बुद्धि और चरित्र रखते हैं। उनकी साक्षी विश्वास योग्य है। (३) जिस प्रकार इन्द्रिया-नुभव मन पर अपना असर छोड़ जाता है उसी प्रकार ईश्वरानुभव अनुभवकर्त्ता के जीवन को बदल देता है।

ये तीनों कसौटियां यह सिद्ध करने में असफल हैं कि ईश्वरानुभव केवल आत्मनिष्ठ नहीं परन्तु बाह्य ईश्वर के अस्तित्व का अनिवार्य सूचक है। हम एक-एक करके इन कसौटियों की परीक्षा करते हैं।

ठीक है लाखों जन धर्मानुभव में ईश्वर अनुभव का दावा करते हैं परन्तु ईश्वर जिसके अनुभव के बारे में उनका दावा है वह **सबके** लिए **एक समान अर्थ** नहीं रखता। भिन्न-भिन्न संस्कृति और शिक्षा के लोगों के लिए ईश्वर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न और विपरीत विश्वास हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि यदि हम आदि मनुष्य के धर्मानुभव से लेकर वेदान्तियों के धर्मानुभव का सर्वेक्षण करें तो उनमें कोई समान अंश नहीं मिलेगा। इसलिए लाखों लोगों का ईश्वर अनुभव सैंकड़ों भिन्न-भिन्न विषयों के सम्बन्ध में अनुभव है। इसलिए गिनती की कसौटी बिल्कुल व्यर्थ है। यदि एक ही मेज़ को एक व्यक्ति घोड़ा अनुभव करे, दूसरा सांप और तीसरा पक्षी तो इन तीनों के अनुभव आत्मनिष्ठ हैं। ये एक बाह्य अस्तित्व के सच्चे सूचक नहीं। इसी प्रकार जब कोई ईश्वर को पुरुष और कोई अपुरुष अनुभव करता है, कोई उसे प्रेमयुक्त या कोई बदला लेने वाला अनुभव करता है, कोई उसे सर्वशक्तिमान और कोई सीमित शक्तिवाला अनुभव करता है, कोई उसे सर्वश्रेष्ठ और कोई उसे अच्छा या बुरा दोनों स्वभाव वाला अनुभव करता है, तो भला इन अनुभवों को एक सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वश्रेष्ठ ईश्वर का सूचक क्योंकर माना जा सकता है? इन धर्मानुभवों की भिन्नता यह बताती है कि ये अनुभव आत्मनिष्ठ हैं और विषयनिष्ठता की दृष्टि से इनकी कोई सत्यता नहीं।

अब हम धर्मानुभव की सत्यता की दूसरी कसौटी की परीक्षा करते हैं। इसमें शक नहीं कि ईश्वरानुभव ऐसे व्यक्तियों को भी हैं जो बुद्धि और चरित्र में उच्च हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये लोग अपने अनुभव के बारे में भ्रान्ति में नहीं हो सकते। इनका उच्च चरित्र केवल यह निश्चित करता है कि वे जो कुछ अपने अनुभव के बारे में कह रहे हैं, वह निष्कपट है। निष्कपटता किसी विश्वास को सत्य नहीं बना देती। आदि मनुष्य भी निष्कपट होकर अपने विश्वास बताता है परन्तु हम समझते हैं कि निष्कपट होते हुए भी उसका अनुभव भ्रान्तिपूर्ण है। केवल अशिक्षित और असभ्य लोग ही अपने अनुभव के बारे में भ्रान्तिपूर्ण नहीं होते, बहुत शिक्षित और सभ्य लोग भी अपने अनुभव के बारे में भ्रान्तिमय हो सकते हैं। जब इंगलैंड या यूरोप में डायन,

चुड़ैल के अस्तित्व में विश्वास फैला हुआ था तो उच्च चरित्र और बुद्धि रखने वाले व्यक्ति भी इन डायनों के अनुभवों की साक्षी देते थे। जब कोई मिथ्या विश्वास संस्कृति का रंग बन जाता है तो वह रग-रग में समा जाता है और व्यक्ति चाहे उच्च चरित्रधारी और बुद्धिमान क्यों न हो उसके अनुभव उसमें रंग जाते हैं। गांधी जी बचपन में ही ईश्वर विश्वास में रंग गए थे। जब वे देश के नेता बने तो देश के बारे में जब कभी कोई कठिन निर्णय करना होता था तो वे ईश्वर के आदेश का इन्तजार करते थे। वह अपने मन को ईश्वर के हवाले करके दीनता के साथ उसके आदेश की प्रार्थना करते थे और वह निष्कपटता से यह विश्वास करते थे कि ईश्वर उन्हें इन मामलों में आदेश देता है। गांधी जी ने कई ऐसे ईश्वर-प्रेरित निर्णयों को हिमालय जितनी बड़ी गलती पाया। इसके होते हुए भी वे विश्वास करते थे कि ईश्वर उन्हें आदेश देता है। क्या ईश्वर के दिए हुए आदेश हिमालय जितनी बड़ी गलतियाँ हो सकती हैं परन्तु विश्वास के आगे तर्क क्या कर सकता है!

इसी प्रकार इंगलैंड के सुप्रसिद्ध प्रधानमंत्री ग्लैडस्टोन के बारे में यह सत्यकथन है कि वे राजनीतिक मामलों में ईश्वर वाणी पर निर्भर करते थे। विरोधी पार्टी के कई पक्के ईसाई यह समझते थे कि ग्लैडस्टोन भ्रान्ति में हैं। ग्लैडस्टोन जिन बातों को ईश्वरवाणी कहते थे, उसके विश्लेषण से पता लगता है कि ईश्वर ग्लैडस्टोन को वही सलाह देता था जो ग्लैडस्टोन के स्वार्थ को पूरा करती थी।

निष्कपटता किसी विश्वास को सत्य नहीं करती। यदि ऐसे उच्च बुद्धि और चरित्रधारी व्यक्ति हैं जो धर्मानुभव में ईश्वर का अनुभव करते हैं तो ऐसे भी उच्च बुद्धिमान और चरित्रवान व्यक्ति हैं जो धर्म अनुभव में ईश्वर का अनुभव नहीं करते। बुद्ध धर्म में उच्च बुद्धि और चरित्रवाले व्यक्ति हैं जो धर्म अनुभव में निर्वाण अवस्था के अतिरिक्त उससे परे ईश्वर के अस्तित्व का कोई अनुभव नहीं करते। इसके अतिरिक्त अतिबुद्धिमान और चरित्रवान ऐसे व्यक्ति भी हैं जो विश्व को ईश्वर विरोधी रूप में अनुभव करते हैं।[४] स्पष्ट है कि यह

४. टामस हार्डी : 'डायनैस्ट्स' (Thomas Hardy : Dynasts) तथा लियोनार्ड वुल्फ़ : सोईंग (Leonard Woolf : Sowing).

कसौटी ईश्वर अनुभव को वास्तविक ईश्वर का सूचक सिद्ध करने में असमर्थ है।

अब तीसरी कसौटी लीजिए। ईश्वरवादियों का कहना है कि ईश्वर अनुभव सचमुच ईश्वर का अनुभव है क्योंकि यह जीवन में उच्च परिवर्तन पैदा करता है। मन में शान्ति लाता है। जीवन की उलझनों को सुलझाता है। जीवन को नए स्तर पर पहुंचाता है। यह सारा उच्च परिवर्तन ईश्वर को सिद्ध करता है। ईश्वरवादियों का ऐसा विचार ग़लत है। किसी के जीवन में उच्च परिवर्तन के होने से यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि यह ईश्वर के कारण हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज फिलासफर रस्सल कहते हैं, "मेरे जीवन में कुछ ऐसे अनुभव हुए जिनसे मेरे जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। मैं उस समय समझता था कि वे शुभकर परिवर्तन थे और महत्वपूर्ण परिवर्तन थे। परन्तु इन अनुभवों का कारण मुझसे बाहर न था। मान लो मैं यह समझ लेता कि ये मेरे अनुभव ईश्वर के कारण हैं तो ये विश्वास सत्य न हो जाते, यद्यपि ऐसे मिथ्या विश्वास रखने पर भी मेरे जीवन में शुभकर परिवर्तन आ जाता।"[5] शुभकर परिवर्तन किसी मिथ्या विश्वास को सत्य नहीं कर देते।

देव धर्म के संस्थापक भगवान देवात्मा ईश्वरभक्त थे। वे अपने अनुभव में ये समझते थे कि ईश्वर उनके मन में बस रहा है। वे अपने मन में शुभ उत्साह और प्रेरणायें अनुभव करते थे। वे उन्हें ईश्वर द्वारा प्रदत्त समझते थे और उन्हें ईश्वर के आदेश के रूप में मानकर उन पर चलते थे। समय के साथ उनकी आलोचनात्मक निर्णय शक्ति ने ऐसे अनुभवों का, ईश्वर के सूचक होने का विश्वास मिथ्या पाया। वे अपने अनुभव के बारे में इस तरह लिखते हैं—"कितने काल तक प्रति बुधवार की रात्रि को ऐसे जलसे होते थे, कि जो 'इश्क इलाही' के जलसे कहलाते थे और ये जलसे कभी-कभी प्रायः सारी रात तक रहते थे। इन प्रेमवर्धक साधनों में अनेक बार प्रेम और

---

५. पाल एडवर्ड्स तथा आर्थर पैप 'ए मौडर्न इन्ट्रोडक्शन टू फ़िलासफ़ी' संस्करण १९६५, अध्याय ४४, पृष्ठ ४८३। (Paul Edwards and Arthur Pap : *A Modern Introduction to Philosophy*, Ed. 1965, Chapter 44, p. 483.)

आनन्द के गहरे उच्छ्वास से परिचालित होकर, कभी मैं नृत्य करता था, कभी हरिगुण गाता था, कभी हरिनाम की जयध्वनि करता था, कभी फूट-फूट कर रोने लगता था, कभी ज़ोर से हंसता था, कभी विह्वल होकर ज़मीन पर गिर पड़ता था···मैं···केवल यही नहीं कि इन प्रबल भावों के उत्तेजित होने से मस्त हो जाता था। किन्तु इन भावों के उत्तेजित होने से अपने हृदय को एक अपूर्व सौन्दर्य से पूर्ण देखता था। इस अद्भुत सौन्दर्य को मैं ईश्वर के रूप का प्रकाश जानता था, और यह समझता था कि वह मेरे हृदय में प्रकाशित होकर मुझे अपने दर्शन दे रहे हैं, और मेरे हृदय में विहार कर रहे हैं। ···यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व कल्पित हो तो मुझमें उपरोक्त प्रकार के भाव क्योंकर उद्दीपित हो जाते थे? इसका उत्तर यह है कि केवल कल्पना के द्वारा भी कितने ही भाव उत्तेजित हो जाते हैं।···जिन स्त्री पुरुषों में काम-वासना वर्तमान है वे इस विषय में जब कोई कल्पित कहानी पढ़ते हैं, या किसी कल्पित पुरुष या स्त्री का ध्यान करते हैं, तब भी उनमें पूर्वोक्त वासना उत्तेजित हो जाती है। ···"हव्वे" या "जू जू" का कल्पित विश्वास भी एक-एक लड़के या लड़की को अन्धेरी कोठरी में डरा देता है। मैं क्या इस समय और क्या इसके बाद और कितने ही सालों तक यह जानने के योग्य नहीं हुआ कि मुझमें जो उच्च जीवन प्रकट हुआ है, वह मेरी गर्भजात विशेषता के अनुसार उन उच्च शक्तियों के बीजों के क्रम-क्रम से प्रस्फुटित और उन्नत होने का फल है। जैसे हिमालय का वह हिरण विशेष, जिसकी नाफ में मुश्क (कस्तूरी) विकसित होती है, यह नहीं जानता, कि यह उसकी अपनी प्रकृतिगत अवस्था, और आवृत्तकारी प्राकृतिक सामानों की विशेषता का फल है, वैसे ही मैं भी तब तक इस सत्य को जानने के योग्य न हुआ था।······ कि जो शुभ प्रेरणायें मुझमें उत्पन्न होती हैं, वे किसी अन्तर्यामी पुरुष की काना-फूसी से नहीं, किन्तु मेरे अपने हृदय की विशेष उच्च शक्तियों के कार्य से होती हैं; और मैं जो उनके पालन के लिए सब प्रकार के त्याग ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत रहता हूं, वह इसलिए कि मुझमें उनका अनुराग मौजूद है।"[६]

---

६. श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री: "मुझमें देवजीवन का विकास" पृ० ६५-६८ में से।

इसी प्रकार हम एक और दृष्टान्त दे सकते हैं जो स्पष्ट करता है कि उच्च परिवर्तन से कोई विश्वास सत्य सिद्ध नहीं हो जाता क्योंकि मिथ्या विश्वास के होते भी शुभकर परिवर्तन पैदा होता है। रामायण में राम, भरत और सीता का व्यवहार आदर्श रूप में दिखाया गया है। राम का चरित्र यह बताता है कि सुपुत्र कैसा होना चाहिए। भरत का चरित्र यह दिखाता है कि भाई का व्यवहार कैसा होना चाहिए। सीता का चरित्र यह दिखाता है कि पत्नी कैसी होनी चाहिए। इस महाकाव्य को सत्य मानकर हमारी हिन्दू जाति पर इसका बहुत प्रभाव है और शुभकर प्रभाव है, परन्तु इतिहासकार इस बात पर शक करते हैं कि रामचन्द्रजी ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं। यदि रामायण के पात्र कल्पित भी हैं तो भी इसके हिन्दू जाति पर महत्वपूर्ण और शुभकर प्रभाव से इन्कार नहीं हो सकता है। साधारणतः हम जानते हैं कि उपन्यास के पात्र पाठकों को बहुत प्रभावित करते हैं यद्यपि यह सब पात्र मिथ्या हैं।

इस कसौटी की एक और त्रुटि देखिए। एक ईश्वरवादी ईसाई और एक ब्रह्मवादी वेदान्ती में शुभकर जीवन परिवर्तन आता है। ईसाई यह विश्वास करता है कि यह परिवर्तन पुरुष रूपी ईश्वर के कारण है। वेदान्ती यह विश्वास करता है कि उसका जीवनान्द ईश्वर के अपुरुष रूप के दृष्टा होने के कारण है। जब शुभकर परिवर्तन ईसाई धर्मी और वेदान्ती दोनों में है और शुभकर परिवर्तन विश्वासकर्ता के विश्वासों की सच्चाई हैं तो ईश्वर पुरुष भी है और अपुरुष भी है। क्या दो विपरीत विशेषण एक ही अस्तित्व के गुण हो सकते हैं? इसका और स्पष्टीकरण हो सकता है। नास्तिक धर्म के अनुयायियों में भी शुभ परिवर्तन आता है और यदि शुभकर परिवर्तन उनके विश्वासों की पुष्टि है तो ईश्वर नहीं है। इस युक्ति के अनुसार ईश्वर है और ईश्वर नहीं है, दोनों सत्य हैं। क्योंकि इन विपरीत विश्वासों का आधार उच्च जीवन है। परन्तु यह कथन कि ईश्वर है और नहीं भी है विचार-विरोध है, इसलिए असत्य है।

फिर धर्मानुभव द्वारा हर अवस्था में शुभकर परिवर्तन नहीं होता, निकृष्ट परिवर्तन भी होता है। ईसाई धर्म में ऐसे बुद्धिमान और चरित्रवान पादरी हुए हैं जिन्होंने ईसाई धर्म के न मानने वालों पर

असहनीय अत्याचार किए और उन्होंने ऐसा करना ईश्वर का आदेश समझा और माना। वे अपने धर्म-अनुभव में ईश्वर का इस प्रकार का आदेश पाते थे। यदि उच्च परिवर्तन श्रेष्ठ ईश्वर को सिद्ध करता है तो निकृष्ट परिवर्तन अनैतिक ईश्वर को सिद्ध करता है। केवल अनुभव के स्तर पर हम यह नहीं कह सकते कि अच्छा परिवर्तन सर्व श्रेष्ठ ईश्वर को सिद्ध करता है, परन्तु बुरे परिवर्तन में अनुभवकर्ता भ्रान्ति में है। ऐसा तभी सम्भव है यदि हम अनुभव से अलग होकर अन्य आधारों पर यह सिद्ध करें कि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है। यदि अन्य आधारों पर ईश्वर सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो और कोई व्यक्ति ईश्वर की ओर से कोई बुरा आदेश समझे, तो वह भ्रान्ति में है। परन्तु केवल अनुभव के स्तर पर दोनों अनुभवों में भेद नहीं किया जा सकता। यदि प्रत्येक अनुभव अपने विषय की निष्ठता का साक्षी आप है, तो दोनों अनुभव, श्रेष्ठ और निकृष्ट, एक समान सत्य हैं, यानी ईश्वर सर्वश्रेष्ठ भी है और निकृष्ट भी जो परस्पर विरोधी विशेषण हैं। इसलिए अनुभव द्वारा ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

संक्षेप में हमने दिखाया कि धर्मानुभव द्वारा ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती और उसके कारण ये हैं—(i) धर्म अनुभव के विषय भिन्न-भिन्न और कुछ अवस्थाओं में विपरीत गुणों के पाये जाते हैं। इन सबके लिए ईश्वर के शब्द का प्रयोग करना उसी प्रकार भ्रान्तिपूर्ण है जिस प्रकार गिलास, आग, पानी, पशु और आत्मा के लिए 'मेज़' शब्द का प्रयोग हो। भिन्न-भिन्न अर्थों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग उसकी भिन्नता को छिपाता है और मिथ्या दृष्टि पैदा करता है। यह कहना कि लाखों लोगों को ईश्वर अनुभव है इसलिए मिथ्या है क्योंकि यह सत्य नहीं कि भिन्न-भिन्न संस्कृतियां और समझ के लोग एक ही परिभाषायुक्त ईश्वर का अनुभव करते हैं। (ii) धर्म अनुभव के भिन्न-भिन्न विषय हैं जिनके लिए एक ही ईश्वर के शब्द का प्रयोग किया जाता है। इन अनुभूत अस्तित्वों में कोई समान गुण नहीं जिसे ईश्वर के अस्तित्व का आधार माना जाये। (iii) धर्मानुभव, अनुभवकर्ता की संस्कृति और सिद्धांत की बोली बोलते हैं। यदि इन अनुभवों से अनुभवकर्ता की संस्कृति और शिक्षा हटा लें तो अनुभव पूर्णरूप से अनिश्चित और अस्पष्ट रह

होता। (iv) यदि हम अनुभवकर्ता की संस्कृति और सिद्धान्त द्वारा वर्णित अनुभवों को रखें तो यह इतने भिन्न और इनमें से कुछ इतने विपरीत हैं कि इनसे सब मिथ्या देवी देवता सिद्ध हो जाते हैं। परस्पर विरोधी गुणों के ईश्वर सिद्ध हो जाते हैं जिसका अर्थ यह है कि कुछ भी सिद्ध नहीं होता। (v) धर्मानुभव या रहस्य अनुभव केवल ईश्वरानुभव तक सीमित नहीं। ऐसे भी धर्मानुभव हैं जो नास्तिक हैं, या जिनमें विश्व में दुष्ट शक्तियों की प्रधानता का अनुभव है। ऐसे रहस्य अनुभव हैं जिनमें विश्व की स्वयंमेव पूर्णता और नियमबद्धता का अनुभव है। ऐसे धर्मानुभव या रहस्य अनुभव हैं जिनमें ईश्वर का नामोनिशान नहीं। यदि धर्मानुभव अपने विषय की निष्ठता के साक्षी आप हैं तो यह सभी प्रकार के ईश्वर स्थापित करते हैं और नास्तिकता को भी स्थापित करते हैं। जब वे आस्तिकता और नास्तिकता दोनों को स्थापित करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि वे कुछ भी स्थापित नहीं करते। (vi) ईश्वरवादी ऐसी कोई कसौटी नहीं बताते जिससे जाना जाये कि अमुक धर्मानुभव का विषय उसकी स्वतन्त्र निष्ठता स्थापित करता है। वे जीवन में क्रान्तिकारी शुभकर परिवर्तन को ऐसी एक कसौटी बताते हैं। यह कसौटी मिथ्या है। मिथ्या विश्वासों के साथ संगत शुभकर फल विश्वास को सत्य नहीं बना देते।

धर्मानुभव के दो स्तर समझे जाते हैं। पहले स्तर पर ईश्वर पुरुष और सगुण रूप में प्रकट होता है और दूसरा स्तर वह है जिसमें ईश्वर का अपुरुष और निर्गुण रूप में अनुभव होता है। हमने पहले स्तर के धर्मानुभव का खण्डन किया है कि वे ईश्वर को सिद्ध नहीं करते। अब हम दूसरे स्तर के अनुभव की परीक्षा करेंगे।

इस दूसरे स्तर के अनुभव को ब्रह्मरहस्यानुभव कहते हैं। इस रहस्यवाद के अनुसार सगुण ईश्वर का विचार मानवत्वारोपी है। यदि हम ईश्वर को मनुष्य के गुण दें तो ईश्वर का विचार मुश्किल में पड़ जाता है। हम ईश्वर को पुरुष समझते हैं। क्या ईश्वर शाब्दिक अर्थ में पुरुष है? विचारशील 'नहीं' में उत्तर देंगे। ईश्वर न पुल्लिंग है, न स्त्रीलिंग और न नपुंसक है। उसका कोई भी लिंग नहीं है। स्पष्ट है कि ईश्वर को शाब्दिक अर्थ में पुरुष कहना ग़लत है। इस प्रकार और गुण

लीजिए। क्या ईश्वर सोचता है? क्या वह इच्छा रखता है? क्या वह हमारी प्रार्थनाएं सुनता है? क्या वह ऋषियों को आदेश देता है? क्या वह अद्‌भुत घटनाओं का कारण बनता है? इनमें से कोई भी गुण ईश्वर का नहीं हो सकता। ईश्वर की कोई इच्छा नहीं हो सकती। क्योंकि इच्छा अभाव का चिन्ह है। हम वह ही चीज़ चाहते हैं जो हमारे पास नहीं है या कम है। ईश्वर के पास सब कुछ है और असीमित मात्रा में है। पुनः मन की क्रियाएं जैसे सोचना, इच्छा करना या कार्य करना समय के आधीन हैं। हम किसी विषय पर कुछ समय के लिए सोचते हैं। समय हमारे सोचने का अच्छिन्न पक्ष है। हम विशेष समय में इच्छा करते हैं या कार्य करते हैं। मनुष्य की सब क्रियाएं समय के आधीन हैं। परन्तु ईश्वर की कल्पना ऐसे अस्तित्व की है जो समय से बाहर है। हम शाब्दिक अर्थ में ये नहीं कह सकते कि ईश्वर सोचता है। ऐसा कहना ईश्वर को समय के आधीन करना है। हम यह नहीं कह सकते कि ईश्वर सोचता है परन्तु समय से बाहर है। ये विचार विरोध होगा। इसी प्रकार ईश्वर को हम चेतना नहीं कह सकते क्योंकि चेतना सदा परिवर्तित होती रहती है और सदा समय के आधीन है। ईश्वर को चेतना या मन कहना और समय से बाहर समझना विचार विरोध है। मानने में कोई भी गुण ईश्वर पर लागू नहीं हो सकता और यदि हम उन्हें लागू करें तो वह विचार विरोध हो जाता है।

निर्गुणी ईश्वर के मानने वालों का कहना है कि ईश्वर को कोई गुण नहीं दिया जा सकता। यदि यह बात ठीक है तो उसे असीमित भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह भी एक गुण है। ईश्वर के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं क्योंकि ब्रैडले जैसे रहस्यवादी स्वयं यह कहते हैं कि ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ कहना ज्यादा उपयोगी है और उसे अनैतिक कहना अनुपयोगी है। इसी प्रकार ईश्वर को 'स्वर्ग स्थित भतीजा' (Nephew in heaven) कहने की तुलना में 'स्वर्ग स्थित पिता' (Father in heaven) कहना ज्यादा

उपयोगी है।[१] यदि कुछ गुण दूसरे गुणों की अपेक्षा ईश्वर पर अधिक लागू हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि इन गुणों और ईश्वर के स्वभाव में सादृश्यता होगी और ईश्वर निर्गुणी नहीं।

---

१. प्रोफेसर सिडनी हुक (Prof. Sidney Hook) 'दी क्युस्ट ऑफ बीइंग', लेख पांच, पृ० ११८ (*The Quest of Being*, Article 5, Page 118).

: १३ :

वैज्ञानिक विधि

हमने पिछले भाग में ईश्वर के सम्बन्ध में जो मुख्य युक्तियाँ दी जाती हैं उनका अध्ययन और खण्डन किया है। यह खण्डन केवल निर-ईश्वरवादी ही नहीं करते ईश्वरवादी भी करते हैं। जर्मनी के महान दार्शनिक कान्ट ने अपनी अमर पुस्तक **क्रिटीक ग्रॉफ प्योर रीज़न** (Critique of Pure Reason) में ईश्वर के सम्बन्ध में सब मुख्य युक्तियों का खण्डन किया है, यद्यपि उस समय वह ईश्वर में विश्वास रखते थे। भारतीय दर्शन में रामानुजाचार्य ने अपनी रचना 'श्री भाष्य' में ईश्वर के सम्बन्ध में युक्तियों का खण्डन किया है। यद्यपि वह सदा ईश्वरवादी भक्त रहे। आजकल पश्चिमी धर्म दार्शनिक जैसे मार्टन ब्यूबर (Martin Bubber) भी ईश्वर के सम्बन्ध में यह मत रखते हैं कि युक्तियों, दैनिक घटनाओं, हां रहस्य अनुभव से भी ईश्वर की स्थापना नहीं हो सकती।

पिछले भाग में हमारा सारा खण्डन यह स्पष्ट करता है कि ईश्वर विश्वास किसी तर्क पर नहीं ठहर सकता। विश्व की कोई घटना या अनुभव उसके होने का साक्षी नहीं बन सकता। इसलिए मनुष्य की समझ या तर्क के पास ईश्वर विश्वास की कोई जगह नहीं है।

इस भाग में हम यह दिखाना चाहते हैं कि हम ईश्वरवाद को केवल उसकी युक्तियों की कमज़ोरियों के आधार पर ही त्याग नहीं करते परन्तु हम ईश्वरवाद का इसलिए भी त्याग करते हैं कि विश्व के स्वभाव में ईश्वर की कोई जगह नहीं। या यूँ कहिये कि विश्व का स्वभाव ईश्वर विश्वास का खण्डन करता है।

विश्व का क्या स्वभाव है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि ईश्वरवाद मिथ्या है ? आजकल सब मानते हैं कि विश्व का अध्ययन

वैज्ञानिक विधि द्वारा ही हो सकता है। आजकल जड़ जगत, वनस्पति जगत, पशु जगत, मनुष्य जगत और मनुष्य समाज में मनुष्य की संस्थाएं जैसे, सामाजिक जीवन और रीति-रिवाज. नियम प्रणाली, राजनैतिक जीवन; आर्थिक जीवन, साहित्य और धर्म सब का वैज्ञानिक विधि द्वारा अध्ययन किया जा रहा है। विषय के अध्ययनों के अनुसार विज्ञानों के नाम हैं और प्रत्येक विज्ञान बड़ा विशाल है। भौतिक विज्ञान (Physics) विश्व के जड़-द्रव्य और शक्ति का अध्ययन करता है। जीव विज्ञान जीव जातियों के आरम्भ और विकास का अध्ययन करता है। मनोविज्ञान, पशु और मनुष्य के मानसिक जीवन का अध्ययन करता है। हर एक विज्ञान की शाखाएं हैं। हर एक शाखा के अलग-अलग अध्ययन के विषय हैं। हर एक विषय की आगे अलग-अलग समस्याएं हैं। अलग-अलग समस्याओं के अलग-अलग पक्ष हैं। इन पक्षों का आगे विभाजन होता है। इस प्रकार भौतिक विज्ञान के हज़ारों वैज्ञानिक हैं जो जड़-शक्ति के नए से नए ज्ञान की खोज में लगे हुए हैं। हर मास भौतिक विज्ञान के सत्य खोज का इतना साहित्य छपता है कि कोई वैज्ञानिक सारा साहित्य नहीं पढ़ सकता। केवल यही नहीं, कोई भौतिक वैज्ञानिक अपने सीमित विषय पर भी जो सत्य ज्ञान छपता है वह भी पूरा नहीं पढ़ सकता। उसके लिए छोटे विज्ञान ज्ञाता हर मास के साहित्य की संक्षिप्तावली (abstract) बनाते हैं ताकि बड़े वैज्ञानिकों का नई खोज के साथ संपर्क रहे।

विश्व के सम्बन्ध में सत्य ज्ञान की इतनी तीव्रता और विशालता से बढ़ौती क्यों कर संभव हुई है ? यह इसलिए सम्भव हुई है कि मनुष्य के हाथ में सत्य ज्ञान की विधि आ गई है। इस सत्य ज्ञान की विधि को वैज्ञानिक विधि कहते हैं। वैज्ञानिक विधि के चार मूल पग हैं। यह विश्व की किसी न किसी घटना के परीक्षण से आरम्भ करती है। इन घटनाओं के वर्णन के लिए वह प्राक्कल्पना बांधती है। इस प्राक्कल्पना के आधार पर वह निगमन या परिणाम निकालती है। फिर इन निगमनों या परिणामों की परख करती है। यदि घटनाएं इस प्राक्कल्पना के निगमनों की साक्षी दें तो विज्ञान उस प्राक्कल्पना को घटनाओं का ठीक वर्णन मानता है और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में प्रयोगों

द्वारा इस मानी हुई प्राक्कल्पना की साक्षी ढूंढ़ता है। और जितनी अधिक साक्षी प्राप्त हो उतनी ही मात्रा में उसे सत्य घोषित करता है। विज्ञान की प्राक्कल्पनाएं अपनी सच्चाई के लिए सदा ही घटनाओं की साक्षी पर निर्भर रहती हैं और यदि ऐसी घटनाएं देखने में आवें जिस पर कोई प्राक्कल्पना पूरी न उतरे तो वैज्ञानिक उस प्रक्कल्पना को बदलता है ताकि वह घटनाओं पर पूरी उतरे। वैज्ञानिक विधि द्वारा प्राप्त सत्य प्राक्कल्पना की सच्चाई का आधार कोई वैज्ञानिक नहीं, कोई दैवीश्रुति नहीं परन्तु विश्व की घटनाएं हैं। वैज्ञानिक प्राक्कल्पना या सत्य ज्ञान के लिए केवल विश्व की घटनाएं ही आधिकारिक (authoritative) हैं। यदि किसी प्राक्कल्पना की घटनाओं से परख न हो सके तो वह प्राक्कल्पना के स्थान पर केवल कल्पना ही कल्पना रह जाती है चाहे यह प्राक्कल्पना कितनी ही बौद्धिक या तार्किक क्यों न हो। ऐसी प्राक्कल्पना के लिए वैज्ञानिक सत्य ज्ञान में कोई जगह नहीं।

इस विज्ञान के चार मूल अंगों को साधारण दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना कीजिए आप ८ या ९ हज़ार फुट ऊंचे पर्वत पर जाते हैं। वहां आप दाल को पतीले में डाल कर पकाने के लिए आग पर रखते हैं। कुछ समय पश्चात अपने पुराने अनुभव के आधार पर आप ढक्कन उतार कर देखते हैं कि दाल गल गई है या नहीं और आप को मालूम होता है कि दाल गली नहीं। आपके मन में प्रश्न उठता है कि यह दाल क्यों नहीं गली—यह विज्ञान का पहला पग है। आप दाल के न गलने का कारण ढूँढ़ना चाहते हैं। आप देखते हैं आग में काफी ताप है या नहीं, और पानी उबला है या नहीं। इन घटनाओं की परख के बाद आप अपनी प्राक्कल्पना बांधते हैं। शायद पतीले में कुछ खराबी है, पतीले का पेंदा पतला है। आप इस प्राक्कल्पना से यह निगमन या परिणाम निकालते हैं कि यदि मोटे पेंदे वाला पतीला हो तो दाल गल जावेगी। यह वैज्ञानिक विधि का तीसरा पग है। अब आप इस प्राक्कल्पना के निगमन की परीक्षा करते हैं कि यह घटनाओं पर पूरा उतरता है या नहीं। आप दाल को मोटे पेंदे वाले पतीले में डाल कर आग पर रखते हैं। यह विज्ञान विधि का चौथा पग है। यदि फिर भी दाल न गले तो आप अपनी प्राक्कल्पना को त्याग देते हैं और दूसरी प्राक्कल्पना

बांधते हैं। शायद यहां की दाल की किस्म ही खराब है इसलिए यह नहीं गलती। आप देश से दाल मंगाते और उसे पकने के लिए रखते हैं। फिर भी वह नहीं गलती। आप अब दूसरी प्राक्कल्पना को भी त्याग देते हैं। अब आप यह प्राक्कल्पना बांधते हैं कि शायद यहां का पानी कम ताप पर खौलने लग जाता है। आप इस प्राक्कल्पना की परीक्षा करते हैं। आप देश और पर्वत पर पानी के उबलने के ताप की जांच करते हैं। आपको पता लगता है कि पानी के उबलने के ताप में अंतर है। ऊंचे पर्वतों पर पानी कम ताप पर उबलता है। इसलिए दाल नहीं गलती। देश में पानी अधिक ताप पर उबलता है इसलिए दाल गल जाती है। फिर आपके लिए प्रश्न होता है कि पर्वतों पर पानी क्यों कम ताप पर उबलता है? इस प्रकार वैज्ञानिक विधि एक घटना के वर्णन के पश्चात दूसरी घटना के वर्णन के सम्बन्ध में प्राक्कल्पना बांधती है और विश्व को समझ का विषय बनाती है। यह वैज्ञानिक विधि का साधारण दैनिक दृष्टान्त है परन्तु घटनाएं कितनी ही जटिल क्यों न हों वैज्ञानिक विधि के यह ही चार पग हैं। वैज्ञानिक विधि घटनाओं से आरम्भ होती है और घटनाओं में ही समाप्त होती है। वैज्ञानिक प्राक्कल्पना घटनाओं के बीच में अनजाने हुए सम्बन्ध पर पुल बांधती है और यदि वह एक प्रकार की घटनाओं से अपनी प्राक्कल्पना द्वारा बांधे हुए पुल पर से चल कर दूसरी प्रकार की घटनाओं पर सही सलामत उतरे तो वह प्राक्कल्पना उन दोनों प्रकार की घटनाओं के सत्य सम्बन्ध का ज्ञान है।

घटनाओं का स्वभाव और सम्बन्ध जानना सरल नहीं, अति कठिन है। वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं को बहुत मेहनत और समझ द्वारा बांधता है, परन्तु वह उनका मोही नहीं हो जाता और जब घटनाएं उसकी प्राक्कल्पना की साक्षी न दें तो वह युक्तियों या तर्क द्वारा अपनी प्राक्कल्पना को बनाए नहीं रखता। वह उसे त्याग देता है। विज्ञान में अनेक प्राक्कल्पनाएं हुई हैं, जिन्हें विज्ञान ने त्याग दिया है। वैज्ञानिक प्राक्कल्पना घटनाओं पर आधारित पुल है; घटनाएं ही इसकी सच्चाई और स्थिरता के आधार हैं।

इस वैज्ञानिक विधि की विशेषता हम मिथ्या विधि द्वारा स्पष्ट

कर सकते हैं। मिथ्या विधि वह विधि है जिसकी प्राक्कल्पनाएं घटनाओं की परख से दूर से दूर भागती हैं। इस विधि के प्रयोगकर्ता को हम मिथ्याचारी कहेंगे। इस विधि के स्पष्टीकरण के लिए हम वही दृष्टान्त फिर लेते हैं कि ऊंचे पर्वत पर दाल नहीं गलती। जो जन देवी-देवताओं में विश्वास रखता है वह यह कल्पना बांधता है कि दाल इसलिए नहीं गलती कि इस पतीले में देवता है जो दाल गलने नहीं देता। वह अपने देवता से प्रार्थना करता है। उस पर चढ़ावा चढ़ाता है। फिर भी उसकी दाल नहीं पकती। उसको यदि हम कहें कि तुम अपनी यह कल्पना त्याग दो तो वह इन्कार कर देता है। वह कहता है कि शायद मेरी प्रार्थना सरल नहीं थी, मेरा चढ़ावा काफी नहीं था। हम उसे कहते हैं कि तुम दुबारा सरल प्रार्थना करो, और अधिक चढ़ावा चढ़ाओ। इस धार्मिक कृत्य के पश्चात भी दाल गलने में नहीं आती तो भी मिथ्याचारी अपनी कल्पना त्याग नहीं देता परन्तु अपनी कल्पना में जमे रहने के लिए यह कहता है कि मेरी सरल प्रार्थना और मेरा चढ़ावा सब कुछ नहीं, देवता की अपनी इच्छा भी तो है। अब इस मिथ्या कल्पना की कैसे परख हो ? हम उसे कहते हैं कि देश में तो दाल गल जाती है, तो वह कहता है कि देश के सम्बन्ध में देवता की ऐसी ही इच्छा होगी। यदि हम उसे बताएं कि इस दाल को प्रैशियर कुक्कर में चढ़ावें ताकि हवा का दबाव बढ़े और इस प्रकार पानी का ताप बढ़ जावे और दाल गल जावे तो आप के देवता की इच्छा कहाँ गई ? तो वह उत्तर देता है कि जब आप प्रैशियर कुक्कर में दाल पकाते हैं तो मेरा देवता अपनी इच्छा बदल लेता है। जब हम उससे पूछते हैं कि तुम्हारे देवता की इच्छा बदलने का आधार क्या है कि देश में तो दाल गलने देता है परन्तु पर्वत पर नहीं, या पर्वत पर तब दाल गलने देता है जब हम प्रैशियर कुक्कर में पकाते हैं ? तो उसका उत्तर यह होता है कि उसके देवता की इच्छा किसी आधार से बंधी हुई नहीं। जो उसका दिल करता है वह वही करता है हम नहीं कह सकते कि वह कब और क्यों अपनी इच्छा बनाए रखता है या बदलता है। उसकी इच्छा किसी सम्भव और असम्भव की कसौटियों पर या अच्छे व बुरे की कसौटियों से निर्णीत नहीं होती, उसकी इच्छा तर्क या नीति के नियमों के आधीन नहीं है। देवता

की इच्छा देवताखुद ही जानता है और उसका किसी दूसरे को ज्ञान नहीं हो सकता। इस मिथ्या विधि में-घटनाओं द्वारा परख की कोई जगह नहीं। इसलिए इसके द्वारा सत्य ज्ञान की कोई आशा नहीं। इस विधि में यदि एक मिथ्या कल्पना की परख न हो तो उस पर दूसरी मिथ्या कल्पना बांधी जाती है और तीसरी मिथ्या कल्पना बांधी जाती है और उसे घटनाओं की परख से दूर से दूर ले जाया जाता है। इतना दूर कि वह सत्य और मिथ्या की सब कसौटियों से बाहर निकल जाती है। अपनी मिथ्या कल्पनाओं के ढेर में परस्पर विरोध पाकर मिथ्याचारी अपनी मिथ्या कल्पना को विश्व रहस्य का सुशोभित नाम देता है। ऐसी मिथ्या कल्पना वाला मिथ्याचारी अपने देवता को रहस्यपूर्ण घोषित करता है और उसके सामने अपनी समस्याओं के हल के लिए दास की न्याईं अपने घुटने टेकता है। इसके विपरीत वैज्ञानिक प्राक्कल्पना घटनाओं के सम्बन्ध को स्पष्ट करती है और उन पर अधिकार देती है। प्रैशर कुक्कर वैज्ञानिक विधि की घटनाओं की समझ और उन पर अधिकार का चिन्ह है।

ईश्वरवादियों की अपने ईश्वर के बारे में सोच की वही मिथ्या विधि है जो देवी-देवताओं के मानने वालों की है। मान लीजिए कि कोई जन कैन्सर से मर जाता है। ईश्वरवादी कहता है कि ईश्वर ने उसके इतने ही दिन लिखे थे, उसकी बीमारी तो एक बहाना थी, उसे कोई नहीं बचा सकता'था। विज्ञानवादी उससे पूछता है कि जब ईश्वर लोगों की आयु निश्चित करता है। तो क्या कारण है कि केवल १५ वर्ष पहले हमारे भारत देश में लोगों की औसत आयु ३२ वर्ष थी और अब ५२ वर्ष है? ईश्वरवादी उत्तर देता है कि ईश्वर ने पहले से ही निर्णय कर रखा था कि १९५५ में भारत के लोगों में स्वस्थ जागृति आवेगी और इसके फलस्वरूप वह स्वास्थ्य नियमों के अनुसार अपने जीवन को ढालेंगे और इस प्रकार लोगों की आयु बढ़ जावेगी और वह आयु उतनी ही बढ़ेगी जितनी उसने निश्चित कर रखी है, अर्थात् बीस साल। स्पष्ट है कि ईश्वरवादी ने अपनी कल्पना को घटनाओं की पहुंच से ऊपर उठा लिया है और घटनाओं से उसकी परख नहीं होने दी। अब विज्ञानवादी ईश्वरवादी

से कहता है कि आपकी बात से यह परिणाम निकलता है कि जो कुछ मनुष्य समाज में होता है उसका निर्णय ईश्वर ही करता है अर्थात् भारतीय लोग १९५५ से पहले स्वस्थ जागृति को प्राप्त नहीं हो सकते थे और स्वास्थ्य नियमों के अनुसार अपने जीवन को नहीं ढाल सकते थे। यदि यह अनुमान ठीक है तो हम कह सकते हैं कि भारत के विभाजन के समय पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का जो खून हुआ और स्त्रियों पर बलात्कार हुआ वह सब ईश्वर की इच्छा और शक्ति का फल था। क्या ऐसे ईश्वर को भद्र व्यक्ति भी कह सकते हैं? ईश्वरवादी इस झपट से निकलना चाहता है। वह अपनी कल्पना को घटनाओं की परख से दूर निकालना चाहता है। वह कहता है कि भारत के विभाजन के समय जो घृणित और अनैतिक आचार हुए वह मनुष्य में ईश्वर की शक्ति के फल नहीं, वह मनुष्य की अपनी करनी है। ईश्वर ने मनुष्य को आज़ादी दे रखी है। मनुष्य अपनी आज़ादी के कारण अच्छे पथ से विपथ हो जाता है और वह बुरे कर्म करता है। इसके लिए ईश्वर उत्तरदायी नहीं। मनुष्य समाज में जो कुछ होता है वह मनुष्य की अपनी करनी है। इसमें ईश्वर की कुछ करनी नहीं। विज्ञानवादी उससे पूछता है कि इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई सर्जन अपनी समझ और निपुणता से किसी रोगी को बचा ले तो इसके लिए धन्यवाद का पात्र कौन है? सर्जन या ईश्वर? रोगी के स्वस्थ होने पर कीर्तन या अखण्ड पाठ किसके लिए रखे जाने चाहिए? सर्जन के लिए या ईश्वर के लिए? कीर्तन या अखण्ड पाठ तो ईश्वर को धन्यवाद देने के लिए रखे जाते हैं लेकिन आपके अनुसार मनुष्य समाज में जो कुछ होता है वह मनुष्य की अपनी करनी है, ईश्वर की करनी नहीं। जब मनुष्य जीवन में जो कुछ होता है वह उसकी अपनी करनी है तो ईश्वर उसके जीवन और मरण का निर्णय क्योंकर कर सकता है? ईश्वरवादी ऐसी अवस्था में कहते हैं कि खुदा की बातें खुदा ही जानता है। भगवान की लीला अपार है। हम मनुष्य कुछ नहीं जान सकते। विज्ञानवादी कहता है कि ऐसा कहने से आपका अभिप्राय यह है कि ईश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ माना जाता है, वह सत्य ज्ञान की जो कसौटियां हैं, उसके बाहर हैं। जो सत्यज्ञान की कसौटियों से

बाहर है वह सत्यज्ञान क्योंकर हो सकता है ?

इसी बात को आजकल के भाषा-विश्लेषण-दर्शन द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। यह दर्शन **वैज्ञानिक विधि के तर्क** पर निर्भर है। उनका कहना है कि वह ही वाक्य तर्कवाक्य है जिसकी अनुभव द्वारा परख हो सके। जिस वाक्य की कोई भी विश्व की अवस्था परख न कर सके वह वाक्य तर्क वाक्य नहीं। इसे मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता, यह असत्य से भी बाहर है, यह **अर्थ रहित** हैं। मान लीजिए कि दो जन जंगल में फिरते-फिराते ऐसी जगह पहुंच जाते हैं जहां एक खाली जगह में कुछ घास-फूस और कुछ फूलों के पौधे हैं। इनमें से एक जन जिसे हम 'कल्पना' का नाम देते हैं कहती है कि यहां कोई माली आता होगा। दूसरा जन जिसका नाम हम अनुभवी रखते हैं कहता है कि यहां कोई माली नहीं आता। यह फूल जंगली हैं। यह दोनों इस जगह पर अपना डेरा लगा लेते हैं और यह जानने के लिए रात-दिन पहरा देते हैं कि कोई माली आता है या नहीं। कई दिन बीत जाते हैं कोई माली नहीं आता। कई महीने बीत जाते हैं, कोई माली नहीं आता। अब अनुभवी कल्पना को कहता है कि तुम यह मान लो कि यहां कोई माली नहीं आता। कल्पना कहती है कि नहीं यह बात नहीं। जो माली यहां आता है उसका शरीर अदृश्य है। अब वह इस जगह को जहां कुछ घास-फूस और फूल लगे हुए हैं बिजली की तारों से घेर लेते हैं ताकि यदि कोई अन्दर आने की कोशिश करेगा तो उसे बिजली लगेगी और वह चिल्ला उठेगा। यह दोनों रात दिन इस ताक में रहते हैं कि कहीं तारें हिलें या कहीं चिल्लाने की आवाज़ आए, परन्तु कुछ भी नहीं होता। अब अनुभवी कल्पना से कहता है कि अब तो मान लो कि यहाँ कोई माली नहीं आता। कल्पना तब भी नहीं मानती। वह कहती है कि जो माली यहां काम करता है उसका शरीर केवल अदृश्य ही नहीं परन्तु वह बिजली के धक्के से मुक्त है। अब वह दोनों शिकारी कुत्ते रखते हैं। यह कुत्ते सूँघने से जान जाते हैं कि कोई व्यक्ति आया है या नहीं। यह दोनों अब कुत्तों के भौंकने की प्रतीक्षा करते हैं। लेकिन उन्हें निराशा होती है। शिकारी कुत्ते नहीं भौंकते। अब अनुभवी कल्पना से कहता है कि तुम्हारा माली कहाँ है ? कल्पना कहती है

कि उसके माली का शरीर ऐसा है कि उसमें किसी किस्म की गन्ध नहीं है। इस पर अनुभवी तंग आकर 'कल्पना' को कहता है कि तुमने जो बात कही थी अब तुम उससे फिरती जाती हो। जब तुमने कहा था यहां माली ज़रूर आता है और मैंने कहा था यहां कोई माली नहीं आता तो हम दोनों 'माली' का एक ही अर्थ ले रहे थे और अपने तर्क वाक्यों के परख की समान विधि समझ रहे थे। अब अपनी बात बचाने के लिए तुम माली का अर्थ ही बदलती जा रही हो। तुम कहती हो यहां आने वाला माली ऐसा है जिसका शरीर अदृश्य है, वह माली ऐसा है जिसके शरीर पर बिजली कोई प्रभाव नहीं डालती। वह माली ऐसा है जिसके शरीर में कोई गन्ध नहीं जिसे शिकारी कुत्ते सूंघ सकते हों। माली का अर्थ बदलते-बदलाते वह अर्थ रहित हो गया है। यह दृष्टान्त प्रोफ़ैसर जौन विज़डम के लेख शीर्षक 'गॉड' पर आधारित है।

एक और दृष्टान्त लीजिए। मान लीजिए कोई कहता है कि "अब ज़ोर की वर्षा हो रही है।" यह वाक्य ऐसा है कि जिसकी सत्य और मिथ्या में परख हो सकती है। ऐसी अवस्था भी हो सकती है जिसमें यह वाक्य मिथ्या हो सकता है। मान लीजिए धरती गीली नहीं हो रही। हम हाथ फैलाते हैं और वह गीला नहीं होता। यदि धरती गीली नहीं हो रही, या हमारा हाथ गीला नहीं हो रहा तो यह ऐसी अवस्था है कि जिसमें यह वाक्य कि 'अब ज़ोर की वर्षा हो रही है, मिथ्या है। यदि धरती भी गीली हो रही है, और हाथ भी गीला हो रहा है तब यह वाक्य 'अब वर्षा हो रही है', सत्य है। इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि वह ही वाक्य तर्कवाक्य है जो कुछ अवस्थाओं में सत्य है और कुछ ऐसी अवस्थाएं भी हो सकती हैं जिनमें वह सत्य न हो। जो वाक्य विरोधी अवस्थाओं में भी सत्य हो वह तर्क वाक्य नहीं। यह ही वाक्य फिर लीजिए कि अब ज़ोर की वर्षा हो रही है। यदि हमारे हाथ फैलाने पर हाथ गीला न हो और तब भी यदि यह वाक्य सत्य मानाजाए, तो यह वाक्य अर्थपूर्ण नहीं। ऐसे वाक्य के मानने वाले को हम मिथ्याचारी कहते हैं, यह कहता है कि उसकी बात ठीक है। जो वर्षा हो रही है, वह अनोखी है, वह किसी चीज़ को गीला नहीं करती। अब हम एक

पीक वाली बोतल लाकर बाहर रखते हैं ताकि देखें कि कितनी वर्षा हो रही है। हम देखते हैं कि बोतल में पानी नहीं चढ़ता। अब भी मिथ्याचारी कहता है कि उसका वाक्य सत्य है। जो वर्षा हो रही है, वह ऐसे स्वभाव की है कि उसका माप नहीं हो सकता। हम ऐसे मिथ्याचारी से पूछते हैं कि वर्षा से तुम्हारा क्या अर्थ है? तुम कहते हो वर्षा वह है जो किसी चीज़ को गीला नहीं करती, जिसे किसी प्रकार मापा नहीं जा सकता। तो वह है क्या? क्या तुम वर्षा को कोई ऐसा अर्थ देते हो जिसको किसी न किसी अवस्था में परख हो सके? यदि तुम वर्षा को किसी भी अवस्था में परख योग्य नहीं समझते हो तो तुम्हारा वाक्य, कि 'अब ज़ोर की वर्षा हो रही है' व्याकरण की दृष्टि से तो शब्दों का ठीक जोड़ है परन्तु तार्किक दृष्टि से केवल यह ही नहीं कि यह असत्य है, परन्तु अर्थ रहित है। वह ही वाक्य तर्कवाक्य है जो कुछ घटनाओं की उपस्थिति में सत्य है और उन घटनाओं की अनुपस्थिति में असत्य हो।

ईश्वरवादी ईश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं उन वाक्यों का वह ही स्वभाव है जिनका हम ऊपर वर्णन कर आए हैं, अर्थात् 'यहां माली आता है' या 'अब ज़ोर की वर्षा हो रही है'। हमने देखा कि यह वाक्य साधारण रूप में तर्क वाक्य है। इनके साधारण अर्थ हैं और ऐसी अवस्था में इनके सत्य और असत्य होने की परख की सम्भावना है। परन्तु हमने देखा कि इनके वाक्यकर्ता इन्हें घटनाओं के अनुसार न पाकर शब्दों के अर्थ इस तरह से बदलते गए कि वह घटनाओं की दुनियां से ही बाहर निकल गए और उनका इस प्रकार कोई अर्थ न रहा। वह केवल असत्य ही नहीं हो गए परन्तु अर्थ रहित भी हो गए। इसी प्रकार का परिवर्तन ईश्वरवादी अपने ईश्वर के सम्बन्ध में वाक्यों में करते जाते हैं और अनजाने तौर पर इन वाक्यों को अर्थ रहित बनाते जाते हैं। ईश्वरवादी कहते हैं कि 'ईश्वर ने यह दुनिया बनाई है।' यह वाक्य अर्थपूर्ण है। हमारा अनुभव है कि चीज़ें बनाई जाती हैं। मेज बनाई जाती है, कुर्सी बनाई जाती है। शब्द 'बनाने' के हम सब साधारण अर्थ समझते हैं। बनाने के लिए औज़ार चाहिएं। हम ईश्वरवादी से पूछते हैं कि ईश्वर ने दुनिया को बनाने के लिए क्या औजार प्रयोग में लाये?

ईश्वरवादी के पास इसका कोई उत्तर नहीं क्योंकि यदि औज़ार पहले ही हों, तो सृष्टि रचना का सवाल कहां पैदा होता है। सृष्टि रचना का अर्थ यह है कि एक समय था जब ईश्वर के बिना कुछ भी नहीं था। ईश्वरवादी इसलिए औज़ारों का होना नहीं मान सकते और न ही उसका कोई विचार बांध सकते हैं। इसलिए ईश्वरवादी कहते हैं कि औज़ारों के बिना भी चीज़ें बनती हैं। एक बच्चा अपने हाथों से गीली मिट्टी लेकर खिलौने बनाता है। हम ईश्वरवादी से पूछते हैं कि ईश्वर ने यदि विश्व रचना बिना औज़ारों के की, तो उसने अपने हाथों से की होगी जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर का शरीर है क्योंकि हम कोई चीज़, शरीर के प्रयोग के बिना नहीं बना सकते। यदि ईश्वर का शरीर है तो इसका अर्थ यह है कि वह स्थान घेरता है और इसलिए वह आकाश (Space) में सीमित है। उसका अस्तित्व असीमित नहीं। फिर यदि ईश्वर का शरीर है तो वह इन्द्रीय अनुभव द्वारा जाना जा सकता है। यदि ईश्वर का शरीर है तो वह परिवर्तन के आधीन है। यदि ईश्वर का शरीर है तो वह दुख-सुख के आधीन है। जो शरीर रखता है वह सीमित है, परिवर्तनशील है, दुख-सुख के आधीन है। वह भला मनुष्य से पूर्णतः भिन्न क्योंकर हो सकता है ? और उसके जानने की विधि क्योंकर अलग हो सकती है ? और वह किस अर्थ से विश्व का सृष्टा हो सकता है ? ईश्वरवादी स्वभावतः ही ईश्वर को शरीरयुक्त नहीं मान सकते। इसलिए वह कहते है कि ईश्वर ने बिना शरीर के विश्व को बनाया। हमारी आपत्ति यह है कि ईश्वरवादी इस प्रकार बनाने का अर्थ ही बदल देते हैं और अपने वाक्य 'ईश्वर ने यह विश्व बनाया है' को अनजाने अर्थ रहित बनाते जाते है।

कुछ ईश्वरवादी भी यह अनुभव करते हैं कि हमारी आपत्ति ठीक है कि 'ईश्वर ने यह विश्व बनाया है' का वाक्य अर्थ रहित है। ईसाई धर्म के चार महान दार्शनिकों में से एक दर्शनकार आगस्टाईन हैं। उन्होंने अपनी एक पुस्तक 'कनफैशन्स' में इस तरह लिखा—

"हे ईश्वर ! आपने ज़मीन और आसमान कैसे बनाए और आप के इस महान कार्य को करने के लिए क्या औज़ार थे ? क्योंकि आपकी कार्य विधि इस प्रकार की तो नहीं हो सकती जिस प्रकार मनुष्य कार्य

करते हैं। मनुष्य के बनाने की विधि तो यह है कि वह अपने विचार और समझ के अनुसार एक चीज़ (लकड़ी) से दूसरी चीज़ (मेज़) बनाता है तो फिर हे ईश्वर ! (जब, आपकी विधि मनुष्य कार्य के अनुसार नहीं) तब आपने ज़मीन और आसमान कैसे बनाए ? स्पष्ट है आप ने एक आसमान से दूसरा आसमान तो नहीं बनाया, न ही ज़मीन पर दूसरी ज़मीन बनाई, न ही आपने वायु में, न ही पानी पर कार्य किया क्योंकि यह तो आसमान और ज़मीन के अंश हैं। न ही आपने सारी दुनियाँ से नई दुनियाँ बनाई क्योंकि दुनियाँ के होने के लिए पहले आकाश चाहिए था। परन्तु आकाश भी तो पहले नहीं हो सकता था। न ही आपके हाथ में कोई औजार था जिससे आपने विश्व की इमारत खड़ी की।" आगस्टाईन ने इस उद्धरण द्वारा स्पष्ट किया कि 'यह समझ की बात ही नहीं है कि 'ईश्वर ने एक समय दुनियाँ बनाई।' लेकिन उसने इस अर्थ रहित वाक्य को विश्वास की चीज़ समझा। विश्वास से कोई अर्थ रहित बात अर्थ पूर्ण बात नहीं बन जाती। इनके बाद जो दूसरे ईसाई महा दार्शनिक हुए उन्होंने विश्व की एक समय सृष्टि का विचार रद्द किया। उनके अनु-सार ईश्वर ने कभी किसी विशेष समय विश्व की रचना नहीं की। विश्व सदा से है। ईश्वर केवल इस विश्व का आधार है। लेकिन ईश्वर किस अर्थ में इस विशाल जड़-जगत का "आधार" हो सकता है ? वह स्पष्ट न कर पाए। इस विचार का खण्डन हम दूसरे भाग पृष्ठ ५०-५१ पर कर आए हैं।

इसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में एक और वाक्य लीजिए। मान लीजिए कि किसी का बच्चा कैंसर का रोगी है। माँ और बाप अति दुख में हैं। ईश्वरवादी उन्हें तसल्ली या दिलासा दिलाता है कि तुम फ़िकर मत करो। ईश्वर परम दयालु है। वह इस बच्चे को तुम्हारे से भी ज़्यादा प्यार करता है। वह इसकी रक्षा करेगा। ईश्वरवादी के यह सब वाक्य अर्थात् 'ईश्वर परम दयालु है' 'वह बच्चे को हमसे भी ज्यादा प्यार करता है, के साधारण अर्थ हम सब समझते हैं और इन साधारण अर्थों में ही ईश्वरवादी की दिलासा को आश्वासन समझते हैं। अब बच्चे का पिता रात दिन तड़प रहा है। वह कभी एक

डाक्टर और कभी दूसरे डाक्टर के पास भागा फिरता है कि मेरे बच्चे को बचाओ। परन्तु ईश्वर पिता कोई व्यवहार नहीं दिखाता। वह टस से मस नहीं होता। बच्चा कैन्सर से मर जाता है। यह पिता ईश्वर-वादी से पूछता है कि तुम्हारे आश्वासन कहाँ हैं? यदि ईश्वर मेरे बच्चे को मेरे समान प्यार करता तो भला वह कैसे मर सकता था? डाक्टरों का ज्ञान और हुनर तो सीमित है। वह इस रोग को अभी नहीं समझ पा सके और इसलिए वे तो लाचार हैं। ईश्वर तो सर्वज्ञानी है और सर्वशक्तिमान है वह तो अवश्य इस बच्चे का रोग निवारण कर सकता था। केवल यही नहीं, ईश्वर सर्व श्रेष्ठ भी है वह भला इस निर्दोष वच्चे का दुख देखकर क्योंकर उसे अपनी सहायता से वंचित कर सकता है? ईश्वरवादी के पास इस पिता की युक्तियों का कोई उत्तर नहीं। उसे 'कल्पना' और 'मिथ्याचारी' की न्यांई अपने शब्दों के अर्थ बदलने होंगे ताकि वह अपने विश्वास को घटनाओं की चोट से ऊपर उठाले। वह कहता है कि ईश्वरीय पिता का प्यार मनुष्य पिता के प्यार के समान नहीं। पिता पूछता है कि यह ईश्वरीय पिता का प्यार, मनुष्य पिता के प्यार के समान नहीं तो किस प्यार के समान है? ईश्वरवादी कहता है कि यह प्यार किसी के प्यार समान नहीं। यह रहस्यपूर्ण प्यार है। यह कोई भी नहीं समझ सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि यह वाक्य कि 'ईश्वर मनुष्य को पिता समान प्यार करता है' कोई अर्थ नहीं रखता जो समझा जा सके और जिसकी परख हो सके। पिता पूछता है कि क्या कोई घटनाओं की ऐसी अवस्था है जिसमें हम यह कह सकें कि 'ईश्वर मनुष्य जाति को प्यार करता है', असत्य प्रमाणित हो। ईश्वरवादी 'कल्पना' और 'मिथ्याचारी' की स्थिति में है। वह अपने वाक्यों को घटनाओं की चोट से बचाने के प्रयत्न में अपने वाक्य के अर्थ ही खो बैठता है।

ईश्वरवादी कह सकते हैं कि ईश्वर के सम्बन्ध में वाक्यों की वह ही कसौटी नहीं हो सकती जो साधारण प्राकृतिक अस्तित्वों और क्रियाओं के सम्बन्ध में हो सकती है और इसलिए ईश्वर के सम्बन्ध में वाक्यों को प्रकृति की घटनाओं की कसौटी पर परखना उचित नहीं। ईश्वर इस प्राकृतिक विश्व का वासी नहीं और इसलिए वह इन परख

की कसौटियों के आधीन नहीं जो प्राकृतिक अस्तित्वों की जानकारी में लागू हैं। ईश्वरवादियों से यह पूछा जा सकता है कि जब वह ईश्वर को दयालु मानकर उसकी दया की प्रार्थना करते है तो **क्या वे** इन विचारों को **साधारण अर्थों** में नहीं लेते ? यदि वह इन्हें साधारण अर्थों में नहीं लेते तो किन अर्थों में लेते हैं ? केवल दलील के लिए ही और अपने मिथ्या विश्वासों को बनाए रखने के लिए वह इस बात का मिथ्या आश्रय लेते हैं कि उनके शब्दों के साधारण अर्थ नहीं। वास्तविकता यह है कि साधारण अर्थों को छोड़कर शब्दों के कोई अर्थ नहीं। ठीक है शब्दों का चिन्ह रूप में या साम्यानुमानिक रूप में या रूपकालंकार की दृष्टि से प्रयोग हो सकता है परन्तु इनका ऐसा प्रयोग उन्हें परख की कसौटियों से बाहर नहीं ले जाता। साम्यानुमानिक या रूपकालंकार शब्दों के ऐसे प्रयोग को साधारण शब्दों में **अनुवादित** किया जा सकता है। इसलिए उनका यह कहना कि उनके ईश्वर के सम्बन्ध में वाक्य के प्रति कसौटियां लाग नहीं, कोई आधार नहीं रखता। दूसरे ईश्वरवादी या तो यह मानें कि ईश्वर का अनुभवी विश्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं या यह माने कि ईश्वर का इस विश्व के साथ सम्बन्ध है। मान लीजिए कि ईश्वर का विश्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं अर्थात् ईश्वर इस विश्व का सृष्टा नहीं या विश्व ब्रह्म की माया नहीं या ईश्वर मनुष्य को पिता समान प्यार नहीं करता या ईश्वर मनुष्य पर परम दयालु नहीं और आत्मा और परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं और दोनों एक-दूसरे से इतने पूर्ण भिन्न और पूर्ण पृथक हैं कि मनुष्यात्मा को उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता तो 'ईश्वर' ईश्वरवादी की कल्पना ही कल्पना रह जाती है और यह कल्पना उसे ही मुबारिक हो। यदि ईश्वर का विश्व के साथ सम्बन्ध है अर्थात् वह विश्व का सृष्टा है और अपने भक्तों की रक्षा करता है तो ऐसी अवस्था में ऐसे वाक्य पर वैज्ञानिक कसौटियां लागू हो जाती हैं। घटनाओं का कोई स्वभाव नहीं जिससे यह अनुमान निकाला जा सके कि इस सृष्टि को कोई रचता है। (देखिए अध्याय ८ और ९)। मनुष्य समाज का अथाह दुख जिसका **निवारण हो सकता** है, इस विश्वास का खण्डन करता है कि ईश्वर मनुष्य पर दयालु है। विश्व में जो घटना होती है उसके सम्बन्ध में जो

भी वाक्य हैं उनकी परख की कसौटियां निरीक्षण और प्रयोग या वैज्ञानिक विधि हैं। विश्व की घटनाओं के सम्बन्ध में जब कोई वाक्य कहा जाए और वह वाक्य वैज्ञानिक विधि पर ठीक ना उतरे तो वह मिथ्या है। और यदि वह वैज्ञानिक विधि की परख की सम्भावना से ऊपर है तो वह अर्थ रहित है। ईश्वरवादी जब कहता है कि ईश्वर की दया से वह निरोगी हो गया है तो वह अपनी निरोगी अवस्था को ईश्वर की दया का प्रमाण मानता है। परन्तु वह यह मानने के लिए तैयार नहीं कि उसका देवता स्वरूप दोस्त जो रोग ग्रस्त होकर समय-पूर्व मर गया, वह यह प्रमाणित करता है कि ईश्वर कठोर है। इस पंजे से निकलने के लिए यह ईश्वरवादी इधर-उधर की बातें बनाता है कि उसके देवता-स्वरूप दोस्त ने पुराने जन्म में पाप किए होंगे या ईश्वर की लीला निराली है, या ईश्वर की बातें ईश्वर ही जानता है।

सारांश यह है कि हमारी भाषा के अर्थ प्रकृति के अनुभवों के साथ जुड़े हुए हैं। इन अनुभवों के बिना और इन अनुभवों से बाहर उनके कोई अर्थ नहीं। ईश्वर के सम्बन्ध में वाक्य अर्थ पूर्ण हैं या अर्थ पूर्ण नहीं। यदि वह अर्थ पूर्ण हैं तो उनकी परख उसी प्रकार हो सकती है जैसे और घटनाओं के बारे में अर्थ पूर्ण वाक्यों की होती है। यदि वे ईश्वर के सम्बन्ध में व्यक्त वाक्य घटनाओं की परख से दूर भागते हैं तो वह केवल कल्पना मात्र ही हैं। यदि वह वाक्य अर्थ रहित हैं तो उनके सत्य वा असत्य होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वह ज्ञान की दुनियां से बाहर हैं। वह केवल अस्पष्ट आवेग हैं।

१४

प्रकृति का स्वभाव

हमने पिछले अध्याय में वैज्ञानिक विधि के स्वभाव का अध्ययन किया है। यह ही केवल एक विधि है जिसके द्वारा विश्व के सम्बन्ध में किसी भी विश्वास की परख हो सकती है। जो विश्वास वैज्ञानिक विधि की परख से बाहर है वह ज्ञान की दुनिया से बाहर है और इसलिए उसके सम्बन्ध में मिथ्या कहना भी उसे गौरव प्रदान करता है। हमने वैज्ञानिक विधि के अध्ययन द्वारा उत्साहित दार्शनिक सिद्धान्त जिसे भाषा विश्लेषण दर्शन कहते हैं, उसकी दृष्टि से यह स्पष्ट किया कि ईश्वर के सम्बन्ध में जो वाक्य बोले या लिखे जाते हैं वह ऊपर से तो अर्थ पूर्ण लगते हैं और यदि उन्हें साधारण अर्थों में लिया जावे तो वह मिथ्या प्रमाणित होते हैं। ईश्वरवादी इसलिए इन साधारण अर्थों से बाहर अर्थ मानते हैं परन्तु साधारण अर्थों से बाहर उन्हें वह कोई अर्थ नहीं दे पाते। उन्हें रहस्यपूर्ण मानकर वह अपने विश्वासों की परख से सुरक्षित करते हैं। ऐसी सुरक्षा से वह वाक्य बदलते बदलते अर्थ रहित हो जाते हैं।

इस अध्याय में हम यह देखना चाहते हैं कि विज्ञान द्वारा प्रकृति के सम्बन्ध में जो सत्य ज्ञान प्राप्त हुआ है वह क्योंकर ईश्वर विश्वास का खण्डन करता है? भौतिक विज्ञान (Physics) ने कुछ सच्चाईयां घोषित की हैं जिनमें से दो यह हैं: भौतिक द्रव्य न तो बढ़ सकता है न कम हो सकता है। वह केवल एक या दूसरा रूप ले सकता है। इसको अंग्रेज़ी में Conservation of Matter (द्रव्य-संरक्षण-नियम) कहते हैं। इसी प्रकार शक्ति न बढ़ सकती है न कम हो सकती है। वह केवल एक या दूसरा रूप ले सकती है। इसको अंग्रेज़ी में Conservation of energy (ऊर्जा-संरक्षण नियम) कहते हैं। हमारा कोई अनुभव नहीं है कि कोई

भौतिक द्रव्य पदार्थ दूसरे भौतिक द्रव्य पदार्थ का नया रूप न हो। कोई भी शक्ति नहीं जो दूसरी शक्ति का रूप न हो।

ईश्वरवादी यह मानते हैं कि ईश्वर ने **एक विशेष समय** में विश्व बनाया है। अब यदि भौतिक जगत को ईश्वर ने रचा है तो इसका अर्थ यह हुआ कि कोई समय था जब द्रव्य और शक्ति अब से कम थे, या यूं कहो कि थे ही नहीं। परन्तु भौतिक विज्ञान यह मानता है कि द्रव्य और शक्ति सदा से है। वे न बढ़ते हैं न ही कम होते हैं। जब विश्व का यह स्वभाव है जो विज्ञान घोषित करता है तो ईश्वर को सृष्टा के रूप में कैसे माना जावे, जब कि इससे यह नियम भंग होता है ? ईश्वरवादी कह सकते हैं कि विज्ञान का यह आधार सिद्धान्त ठीक है कि द्रव्य और शक्ति न बढ़ते है न कम होते हैं परन्तु यह भौतिक जगत के गुण ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन नहीं करते। विश्व की रचना का अर्थ यह नहीं है कि एक विशेष समय में यह रचा गया। यह रचना के साधारण लौकिक अर्थ हैं कि एक समय था जब विश्व नहीं था और फिर ऐसा समय आया जब ईश्वर ने विश्व की रचना की। वास्तव में विश्व हमेशा से है परन्तु जब हम कहते हैं कि विश्व का रचयिता ईश्वर है तो हमारा अर्थ यह है कि विश्व सदा से ही ईश्वर **पर निर्भर है**। विश्व अनन्त काल से है और अनन्त काल से ही ईश्वर पर निर्भर है। विश्व की घटनाओं का यह स्वभाव है कि कोई भी घटना अपना आधार आप नहीं बन सकती। एक घटना दूसरी घटना पर निर्भर करती है और दूसरी घटना तीसरी घटना पर निर्भर करती है और इस प्रकार घटनाओं की असमाप्त लड़ी बन जाती है और इस तरह विश्व का कोई वर्णन नहीं होता। स्पष्ट है कि इस असमाप्त होने वाली लड़ी का आधार होना चाहिए और वह आधार ईश्वर है। जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर सृष्टा है तो हमारा अर्थ यह है कि घटनाओं के वर्णन का आधार है। हम इस युक्ति का विश्व रचना युक्ति के नाम से दूसरे भाग, अध्याय ८, में अध्ययन और खण्डन कर आए हैं। पाठक-गण इस खण्ड को पुनः पढ़ सकते हैं और अनुभव कर सकते हैं कि सृष्टा के इस नए अर्थ द्वारा वह विज्ञान के आधार सिद्धान्त के साथ अपने विश्वास की भी संगति नहीं रख सकते। यदि विज्ञान का विश्व के बारे

में सिद्धान्त ठीक है, जैसे कि है, तो ईश्वर को सृष्टा के रूप में नहीं माना जा सकता। और यदि जगत् कारण युक्ति मिथ्या है (जैसा कि हम दिखा चुके हैं) तो ईश्वर को आधार रूप में सृष्टा भी नहीं माना जा सकता।

कुछ ईश्वरवादी कह सकते हैं कि आज का विज्ञान आपेक्षिकता सिद्धान्त (Theory of relativity) के अनुसार द्रव्य और शक्ति को एक दूसरे में परिवर्तित मानता है जिसका अर्थ यह है कि भौतिक द्रव्य और शक्ति सदा एक समान नहीं रहते। जब भौतिक द्रव्य का कुछ भाग शक्ति बन गया तो भौतिक द्रव्य कम हो गया और शक्ति बढ़ गई। विज्ञान में ऐसे परिवर्तन से ईश्वर वादियों के लिए कोई सहायता नहीं। आज विज्ञान भौतिक द्रव्य और शक्ति को सदा एक मात्रा में रहने के सम्बन्ध में दो नियमों के स्थान पर एक नियम को आधार मानता है अर्थात् वह यह नहीं कहता कि भौतिक द्रव्य मात्रा में सदा एक समान रहता है और शक्ति सदा एक समान मात्रा में रहती है परन्तु वह कहता है कि भौतिक द्रव्य-शक्ति सदा एक मात्रा में रहते हैं। वह भौतिक-द्रव्य-संरक्षण नियम तथा शक्ति-संरक्षण नियम के स्थान पर भौतिक-द्रव्य-शक्ति-संरक्षण नियम कहता है। स्पष्ट है कि वह इन दोनों की मात्रा को सदा ही समान मानता है। यदि ईश्वर ने विश्व को एक विशेष समय में रचा है तो इस नियम का भंग होता है। विज्ञान में आपेक्षिकता सिद्धान्त द्वारा ईश्वरवाद को कोई सहायता नहीं मिलती।

कई ईश्वरवादी कहते हैं कि आप आगे चलिए। इंगलैंड के कुछ खगोलवेत्ता जैसे होयल (Hoyle), बौंडी (Bondi) और गोल्ड (Gold) कहते हैं कि भौतिक द्रव्य की रचना (Creation of new matter) हो रही है। इनका कहना है कि भौतिक द्रव्य संरक्षण नियम केवल हमारे सूर्य मंडल या सूर्य परिवार का नियम है। विश्व का नियम नहीं। जब यह सच है तो ईश्वरवादी कहते हैं कि विज्ञान के सिद्धान्त ईश्वर के सृष्टा रूप का खण्डन नहीं करते। यदि भौतिक द्रव्य रचना हो सकती है तो यह विश्वास असंगत नहीं कि ईश्वर ने विश्व की रचना की।

यदि ईश्वरवादी भौतिक द्रव्य-रचना की प्राक्कल्पना का आधार

और अर्थ समझें तो उन्हें पता लगेगा कि किस रेत पर अपने ईश्वर की इमारत खड़ी कर रहे हैं। इस भौतिक द्रव्य-रचना प्राक्कल्पना का आधार यह है कि प्रत्येक सितारों का परिवार एक दूसरे से बराबर की दूरी पर है। इस प्रकार विश्व एक ही समान देखा जा सकता है चाहे देखने वाला किसी भी सितारों के परिवार पर क्यों न हो। विश्व में सितारों के परिवार सदा ही बढ़ती हुई तेज़ी से परे भाग रहे हैं। इन सितारों के परिवारों का फैलाव एक ही तरफ हो रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि विश्व फैल रहा है। यदि वह फैल रहा है तो वह एक समान क्यों कर रह सकता है? प्रत्येक आयतन एक समान भौतिक द्रव्य रखता है परन्तु जब प्रत्येक आयतन बढ़ता जा रहा है तो इसका मतलब यह हुआ कि भौतिक द्रव्य की रचना हो रही है।

इस भौतिक द्रव्य रचना प्राक्कल्पना के दो दोष हैं। पहला दोष यह है कि यह वैज्ञानिक प्राक्कल्पना नहीं। इस दोष के बारे में इंगलैंड के प्रसिद्ध खगोलशास्त्री और गणितज्ञ जार्ज जी. मैक्विटी (George G. Mcvittie) टिप्पणी करते हैं। वह एडिनबर्ग और लंदन के विश्व-विद्यालयों में आचार्य रहे हैं और आज कल अमेरिका के एलीनायस विश्वविद्यालय में खगोल विभाग के अध्यक्ष हैं। इन्होंने दो प्रसिद्ध पुस्तकें भी लिखी हैं। वे द्रव्य रचना प्राक्कल्पना के खगोलशास्त्रियों के सम्बन्ध में लिखते हैं, "यह खगोल शास्त्री **विज्ञान का पथ छोड़कर** परिकल्पना के आधार पर सितारों के परिवारों के सम्बन्ध पर अनुमान लगाते हैं। उनका कहना है कि जब हमारा अनुभवनिरपेक्ष तर्क (Apriori reasoning) यह कहता है कि सितारों के परिवारों का सम्बन्ध ऐसा होना **चाहिए** तो उनका सम्बन्ध ऐसा **ही है**। वह अनुभव निरपेक्ष तर्क को अनुभव के स्थान पर ज्ञान का आधार बनाते हैं। यह विधि तर्क को घटनाओं का निर्णय कर्त्ता बनाती है। इन खगोल शास्त्रियों ने १९३० में केवल अनुभवनिरपेक्ष तर्क को अपने वाद के निर्माण का आधार बनाया। ये खगोल शास्त्री आईनस्टाईन (Einstien) की आपेक्षिकतावाद (Theory of Relativity) को परे रख देते हैं जो भौतिक विज्ञान के द्रव्य-ऊर्जा संरक्षण नियम को मानता है। वह इस बात का निरादर करते हैं कि अब तक सितारों के परिवारों के **निरीक्षण के यन्त्र अपूर्ण हैं** और सारे

परिवारों का अभी तक निरीक्षण नहीं हुआ। उनके अनुसार हमें अधिक निरीक्षण की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। हम केवल अनुभवनिरपेक्ष तर्क द्वारा ही सितारों के परिवारों का विभाजन और परस्पर कार्य को जान सकते हैं। इनके अनुसार परिकल्पना ही स्वयं पूर्ण है। इन खगोल शास्त्रियों को यह बात नहीं बनती कि घटनाओं का निरीक्षण इनके विश्वास के अनुसार नहीं।"

यदि इस द्रव्य रचना परिकल्पना को स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी ईश्वर विश्वासियों के लिए यह ईश्वर को सृष्टा रूप में सिद्ध नहीं करती। इस अनिरीक्षित भौतिक द्रव्य रचना परिकल्पना के अनुसार भी प्रत्येक आयतन सदा से ही भौतिक द्रव्य सम्पन्न है। इसलिए कभी भी कोई ऐसा समय न था जब भौतिक द्रव्य सब जगत में समान रूप से उपस्थित न थे। जब भौतिक द्रव्य सदा और समान रूप से सारे आकाश में हैं तो उनका किसी एक समय में सृजन होना विचार विरोध है और इसलिए मिथ्या है।

यह भौतिक द्रव्य-रचना परिकल्पना विज्ञान में त्यागी जा चुकी है और अब नए बिंग बैंग वाद (Big Bang Theory) ने इसकी जगह ले ली है। यह नया वाद भौतिक द्रव्य रचना वाद को त्याग करके भौतिक द्रव्य-ऊर्जा-संरक्षण नियम पर स्थापित है।

हमने देखा कि यदि भौतिक द्रव्य-ऊर्जा संरक्षण भौतिक विश्व के सम्बन्ध में सत्य है तो यह विश्व के सृष्टावाद को तथ्यों की दृष्टि से असम्भव सिद्ध करता है। भौतिक द्रव्य रचनावाद को सत्य भी मान लिया जावे तो वह सृष्टा की प्राक्कल्पना को असत्य करता है क्यों कि इसका आधार यह है कि प्रत्येक आयतन सदा से ही भौतिक द्रव्य सम्पन्न है।

१५

विश्व की स्वयं पूर्णता

विज्ञान विधि द्वारा घटनाओं का वर्णन इस सत्य की पुष्टि करता है कि विश्व स्वयं में पूर्ण है। विश्व के स्वयं में पूर्ण होने का अर्थ यह है कि विश्व में घटनाओं का वर्णन विश्व की ही घटनाएं हैं। कोई भी घटना ऐसी नहीं जिसके वर्णन के लिए विश्व की घटनाओं से बाहर जाना पड़ता हो। विज्ञान के पास इस घटना का वर्णन है कि हमारी पृथ्वी का कब, और कैसे विकास हुआ। इस वर्णन में उसे विश्व से बाहर ईश्वर को कारण रूप में लाने की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। इस प्रकार यह विज्ञान की गुप्त घोषणा है कि पृथ्वी को ईश्वर ने नहीं बनाया। यह पृथ्वी अन्य प्राकृतिक घटनाओं से ही विकसित हुई है। इसी प्रकार जीव विज्ञान ने अनगिनित निर्विवाद घटनाओं की साक्षी द्वारा यह वर्णन किया है कि मनुष्य ने इस पृथ्वी पर कैसे जन्म लिया। इस वर्णन को विकासवाद कहते हैं। यह वाद यह घोषित करता है कि मनुष्य जाति को ईश्वर ने सर्जित नहीं किया। मनुष्य पशुओं की एक जाति से ही विकसित हुआ है। मनुष्य की उत्पत्ति का कारण इस पृथ्वी की अन्य घटनाएं हैं। इस प्राकृतिक विश्व से बाहर कोई कारण नहीं। मनुष्य समाज में भाषा, साहित्य, कला, और सामाजिक जीवन की राजनैतिक और आर्थिक गठन में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। वे स्वयं रचित है। समाज विज्ञान मनुष्य जीवन के इन सब उत्पादनों का ईश्वर के बिना वर्णन करता है। इसी प्रकार मनुष्य के रोग या महामारी किसी ईश्वर की अप्रसन्नता के कारण नहीं। चिकित्सा विज्ञान (Medical Science) ने रोगों के कारण कीटाणुओं में पाए हैं या शरीर में अंगों के दूषित होने में पाए हैं। इस ने इन में से कई रोगों की जानकारी द्वारा

काबू पा कर इन्हें नष्ट कर दिया है। इनका नाम तक मिटा दिया है। अब प्लेग किसी भी सभ्य देश में नहीं होती। हैज़ा किसी पश्चिमी देश में नहीं होता। चिकित्सा विज्ञान की सफलता यह गुप्त रूप से घोषित करती है कि मनुष्य के शारीरिक जीवन का नियम किसी भी दैवी शक्ति पर आधारित नहीं है। मनुष्य का स्वार्थ और रोग प्राकृतिक विश्व या नेचर पर ही आधारित हैं। सामाजिक जीवन का एक और पक्ष लीजिए। समाज में निर्धनता का कारण निर्धनों के पुराने जन्म के पाप नहीं या ईश्वर की अप्रसन्नता नहीं। समाज विज्ञान इस मिथ्या वर्णन के स्थान पर यह बताता है कि जनता की निर्धनता का कारण समाज का दूषित गठन है। इस अन्याय मूलक सामाजिक गठन को हटाने से निर्धनता कम हो सकती है। निर्धनता का एक और कारण भी है। मनुष्य का प्राकृतिक ज्ञान सीमित है। इस कारण वह अपने वातावरण से इतनी उपज नहीं कर सकता कि सबको भर पेट खाना मिले। ज्यों-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ेगा और सामाजिक गठन न्यायपूर्ण होता जावेगा त्यों-त्यों समाज में निर्धनता, रोग और अज्ञानता कम होती जावेगी। ऐसे परिवर्तन के लिए वैज्ञानिक विधियों से बाहर जाने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि इनके कारण प्राकृतिक विश्व या नेचर में ही हैं। इसी प्रकार मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन का वर्णन विश्व में है, विश्व से बाहर नहीं। मनुष्य के नैतिक नियम मनुष्य के सामाजिक जीवन की सम्भावना और सफलता के नियम हैं। यह नैतिक नियम है कि मनुष्य को मनुष्य के जीवन का सम्मान करना चाहिए। इस नियम का क्या आधार है ? यदि प्रत्येक मनुष्य दूसरे के जीवन की हत्या करे तो समाज का जीवन असम्भव है। इसलिए मनुष्य की हत्या अनैतिक है। इसी प्रकार यदि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की संपत्ति का अपहरण करे तो समाज नहीं रह सकता। इसलिए चोरी अनैतिक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति आपस में कार्य अनुबन्ध (contract) का उल्लघंन करे तो समाज नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए यदि स्कूल वाले फ़ीस लेकर विद्यार्थियों की पढ़ाई का कोई प्रबन्ध न करें। अर्थात् कोई अध्यापक न रखें, पढ़ाने के लिए भवन का प्रबन्ध न करें तो स्कूल की संस्था नहीं चल सकती। स्कूल की संस्था तब ही सम्भव है जब विद्यार्थी फ़ीस दें और स्कूल वाले अध्यापक रखें

और यह अध्यापक पढ़ावें। अर्थात् प्रिन्सिपल से चपरासी तक प्रत्येक जन अपना-अपना कार्य अनुबन्ध पूरा करे। जितनी मात्रा में इस स्कूल समाज के सदस्य अपना-अपना कार्य अनुबन्ध अधिक सफलता से पूरा करेंगे उतनी ही मात्रा में स्कूल समाज में प्रत्येक जन अपना लाभ प्राप्त करेगा। इन दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि नैतिक नियमों का आधार सामाजिक जीवन है। उससे बाहर कोई ईश्वरीय आधार नहीं। नैतिक नियम सामाजिक जीवन की स्थापना की परिस्थितियाँ हैं और वह ही इनकी सत्यता के आधार हैं। यह कहना मिथ्या है कि यदि ईश्वर नहीं तो नैतिक नियमों का कोई आधार नहीं।

यही बात आध्यात्मिक नियमों के लिए सत्य है। जैसे स्वास्थ्य के नियम शरीर के साथ सम्बन्धित हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक नियम आत्मा के साथ सम्बन्धित हैं। शरीर कुछ अवस्थाओं में स्वस्थ रहता है और कुछ अवस्थाओं में अस्वस्थ रहता है अर्थात यदि शरीर को पौष्टिक भोजन मिले, साफ हवा व पानी मिले, व्यायाम और विश्राम के अवसर मिलें और उसकी रोगों के कीटाणुओं से रक्षा हो और उसके आन्तरिक अंग अपना-अपना कार्य करें तो शरीर स्वस्थ रहता है। इन स्वास्थ्य के नियमों का आधार ईश्वर नहीं शरीर है। इनकी सत्यता शरीर पर आधारित है। यदि शरीर नहीं तो यह नियम नहीं। इसी प्रकार आध्यात्मिक नियमों का आधार आत्मा है, ईश्वर नहीं। यदि मनुष्यात्मा मिथ्या पूर्ण, अन्याय मूलक और स्वार्थी और मोही व्यवहार और विचार करता है तो वह इनसे रोगी हो जाता है और यदि वह सत्य मूलक और सात्विक व्यवहार करता है तो वह अपना आत्मिक स्वास्थ्य और शक्ति बढ़ाता है। मनुष्य का अस्तित्व—उसका शरीर और आत्मा—का विकास प्राकृतिक है। उसके शारीरिक और आत्मिक स्वास्थ्य के नियम प्राकृतिक हैं। नैतिक और आध्यात्मिक नियम आत्मा और समाज के स्वास्थ्य के नियम हैं और इसलिए वह प्राकृतिक नियम हैं। इन नियमों की खोज वैज्ञानिक विधि द्वारा ही सम्भव है, उससे बाहर नहीं। जैसे विज्ञान शरीर के स्वास्थ्य के नियम की खोज करता है उसी प्रकार वह आध्यात्मिक नियमों की भी खोज करता है। देवात्मा ने आध्यात्मिक

नियमों की वैज्ञानिक खोज की है।[1]

इस सारे वर्णन से स्पष्ट है कि सब घटनाओं का वर्णन चाहे वह भौतिक या जैविक, मनोविज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक हो, उनका वर्णन प्राकृतिक विश्व में ही है उससे,बाहर नहीं। विश्व की घटनाओं के वर्णन के लिए ईश्वर की प्राक्कल्पना व्यर्थ है और इसलिए त्याग योग्य है। विश्व की कोई भी घटना ईश्वर विश्वास की पुष्टि नहीं करती क्योंकि उस घटना के वर्णन में ईश्वर का कोई हाथ नहीं मिलता।

वैज्ञानिक विधि द्वारा घटनाओं की समझ केवल ईश्वर विश्वास को व्यर्थ ही नहीं प्रमाणित करती परन्तु यह भी दिखाती है कि ईश्वर का प्राक्कल्पना द्वारा वर्णन कोई वर्णन नहीं। ऐसे वर्णन में ज्ञान की कोई बढ़ौती नहीं। समझ की कोई ज्योति नहीं। हम ईश्वरवादी से यदि कहें कि उसे मलेरिया क्यों हुआ और वह इसका उत्तर दे कि यह ईश्वर की इच्छा थी तो इससे समझ में कोई बढ़ौती नहीं होती। यदि हम उससे पूछें कि उसका मलेरिया क्योंकर हट गया और वह उत्तर दे कि ईश्वर की इच्छा से वह मुक्त हो गया तो हमारी समझ में कोई बढ़ौती नहीं हुई। यदि हम उससे पूछें कि अमुक जन मलेरिया से मर क्यों गया और वह यह कहे कि यह ईश्वर की इच्छा थी तो हम अनुभव कर सकते हैं कि ईश्वरवादी का ऐसा उत्तर घटनाओं के वर्णन से खाली है।

प्राकृतिक विश्व या नेचर स्वयं पूर्ण है और स्वयं में ही अपनी घटनाओं के वर्णन की योग्यता रखता है। ईश्वर की प्राक्कल्पना केवल घटनाओं के वर्णन में सहायक ही नहीं, बाधक है। इसलिए उसमें कोई सत्यता नहीं।

---

१. देवधर्म प्रवर्तक (श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री) विरचित देवशास्त्र, खण्ड ३।

१६

विश्व में नियम बद्धता

विज्ञान की विधि का आधार सिद्धान्त केवल यह ही नहीं कि प्रत्येक घटना का वर्णन प्राकृतिक विश्व की अन्य घटनाएं हैं परन्तु घटनाएं एक दूसरे के साथ कार्य-कारण में बँधी हुई होती हैं। वैज्ञानिक विधि विश्व के भिन्न-भिन्न विभागों में घटनाओं के कार्य कारण के सम्बन्ध को स्पष्ट करती है जिसे नियम कहते हैं। प्रत्येक विज्ञान की पुस्तक में घटनाओं के नियमों का वर्णन है। भौतिक विज्ञान की पुस्तक में आपको जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में नियमों का वर्णन मिलेगा। झुकाव का नियम (Law of gravitation) इसका एक दृष्टान्त है। इस नियम के अनुसार भौतिक पदार्थ अपने द्रव्य मान (mass) के अनुसार और दूरी के (inverse proportion) प्रतिलोम अनुपात के हिसाब से एक-दूसरे की ओर झुकते हैं। रसायन विज्ञान (Chemistry) की पुस्तक में आपको रसायन पदार्थों के सम्बन्ध के नियम मिलेंगे। आपको उदाहरणार्थ यह नियम मिलेगा कि यदि आक्सीजन और हाइड्रोजन एक और दो के अनुपात में बिजली द्वारा मिलाए जावें तो पानी पैदा होता है। जीव विज्ञान, जीव-जातियों के बढ़ने, बिगड़ने और मरने की स्थितियों के नियमों का अध्ययन करता है। यह बताता है कि किस नयम के अनुसार जातियों का विकास हुआ है। और किस प्रकार जातियों का विनाश हुआ। डारविन का खोजित विकासवाद इस विज्ञान में नियम का दृष्टान्त है। मनुष्य का चिकित्सा विज्ञान मनुष्य के शरीर के नियमों का अध्ययन करता है। वह ऐसे नियम बताता है कि किस प्रकार शरीर रोगी हो जाता है और इन रोगों की कैसे चिकित्सा हो सकती है। रोग के होने और उसकी चिकित्सा के नियम हैं और इनके अनुसार ही यह होते वा हटते हैं।

घटनाओं का स्वभाव क्या है ? और घटनाओं के नियम का क्या अर्थ है। घटनाएं समय के आधीन हैं। कोई भी ऐसी घटना नहीं जो किसी विशेष समय से आरम्भ न हो या जिसका अन्त न हो। जो कोई भी अस्तित्व व घटना है वह समय के आधीन है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक घटना परिवर्तनशील है। विज्ञान ने अब तक कोई ऐसा अस्तित्व या घटना नहीं पाई जो परिवर्तित न होती हो। यदि विश्व का यह स्वभाव है कि उसमें प्रत्येक अस्तित्व या घटना परिवर्तनशील है तो इस अध्ययन से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि किसी अस्तित्व का अटूट या अविछिन्न पक्ष यह है कि वह परिर्वातित हो। 'होने,' का अर्थ ही परिर्वातित होना है। यदि हम मान लें कि 'होने' का अर्थ ही परिर्वातित होना है जैसे कि यह हर घड़ी का अनुभव है तो परिवर्तन रहित आत्मा या परमात्मा में विश्वास मिथ्या है। यदि ईश्वर का एक अविच्छिन्न गुण यह है कि वह परिवर्तन रहित है और यह ईश्वर की परिभाषा के लिए ज़रूरी है, क्योंकि परिवर्तन का अर्थ अपूर्णता है, तो ऐसी परिभाषा वाले ईश्वर का अस्तित्व नहीं हो सकता और इसलिए ईश्वर विश्वास मिथ्या है।

कई सिद्धान्त दर्शक, जैसे बर्गसौन, (Bergson), एलैगजैन्डर (Alexander) अस्तित्वों और घटनाओं के परिवर्तन स्वभाव को मानते हैं और इसलिए अपरिर्वातितशील ईश्वर का त्याग करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर परिवर्तन की **होने वाली विशेषता** का नाम है जिस ओर विकास प्रगति कर रहा है। ईश्वर के अर्थ बदलते रहते हैं क्योंकि परिवर्तन नए से नए शुभ लाभों की ओर बढ़ता जाता है। ईश्वर दूसरे शब्दों में विकास का होने वाला अगला पड़ाव है। विकास एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव की ओर बढ़ता रहता है इसलिए ईश्वर का भी विकास होता रहता है।

ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा विचार परिवर्तन की सच्चाई की स्वीकृति तो है और मानवत्वारोपी ईश्वर विश्वास का खण्डन है। परन्तु विकास के नियम को ईश्वर कहना विचारों में अर्थान्तर पैदा करना है। विकासकारी **नियम** पुरुष नहीं, वह सर्व शक्ति मान नहीं वह सर्वज्ञानी नहीं, वह पूर्ण नहीं। जब यह सब लक्षण ईश्वर से हटा

लिए जावें तो ईश्वर क्या रह जाता है ? केवल तसल्ली का नाम है। यह वास्तव में निराशावाद है।

२

हमने घटनाओं और अस्तित्व का स्वभाव बताया है कि वह सदा परिवर्तनशील हैं और एक घटना का वर्णन और अन्य घटनाओं में है। विश्व अस्तित्व और घटनाओं के परिवर्तन का इतिहास है या उनका दूसरा नाम है। इस सदा परिवर्तनशील विश्व में किसी ऐसे कार्य का कार्यशील होना जो समय और परिवर्तन के आधीन न हो, असम्भव है। चमत्कार का अर्थ वह घटना है जिसका कारण कोई और घटना नहीं, परन्तु उसका कारण अपरिवर्तनशील दैवी शक्ति है। उदाहरणार्थ यदि वृक्ष पर मिठाई पैदा हो और वह तोड़ी जा सके तो यह चमत्कार है। क्योंकि ऐसी घटना का कारण ईश्वर की शक्ति मानी जाती है। ईश्वर परिवर्तन रहित है। इसलिए यह कारण भी परिवर्तन रहित है। यह चमत्कार का वर्णन मिथ्या है। यदि ईश्वर की शक्ति ने वृक्ष में यह परिवर्तन पैदा किया तो उसकी शक्ति परिवर्तनशील है। शक्ति में परिवर्तन ही परिवर्तन पैदा कर सकता है। यह दैवी शक्ति अन्य प्राकृतिक शक्तियों की न्याई ही परिवर्तनशील है। ईश्वर जो यह शक्ति रखता है वह स्वयं परिवर्तनशील हो जाता है। वह स्वयं भी प्राकृतिक अस्तित्व हो जाता है। चमत्कार में विश्वास, ईश्वर को परिवर्तनशील बनाकर उसकी परिभाषा को नष्ट करता है। यदि ईश्वर है तो चमत्कार नहीं हो सकता। लेकिन ईश्वरवादी चमत्कार द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं यद्यपि इससे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, रद्द होता है।

स्पष्ट है कि चमत्कार नहीं हो सकते क्योंकि चमत्कार के होने की जो परिस्थितियां हैं वह असम्भव हैं। अपरिवर्तनशील कारण परिवर्तनशील घटना का दाता नहीं हो सकता।

हम चमत्कारों के असम्भव होने को एक और विधि से भी सिद्ध कर सकते हैं। यदि हम नियम का अर्थ समझें तो हमें पता लगेगा कि चमत्कार क्यों कर असम्भव है ? विश्व में नियम का क्या अर्थ है ? जैसे

हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं कि जब घटनाएं एक दूसरे के साथ कार्य-कारण में बंधी हुई होती हैं तो हम घटनाओं के ऐसे सम्बन्ध को नियम कहते हैं कार्य-कारण सम्बन्ध का अर्थ क्या है ? इस सम्बन्ध का अर्थ यह है कि यदि पहली घटना हो अर्थात् पानी केतली में आग पर रख लिया जावे तो पानी ज़रूर गर्म हो जावेगा। यह नहीं हो सकता कि केतली में पानी आग पर हो और वह गर्म न हो। यह नहीं हो सकता कि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को ठीक अनुपात में बिजली द्वारा मिलाया जावे और पानी न बने। यह कार्य-कारण का सम्बन्ध **अनिवार्य** सम्बन्ध है, अविच्छिन्न सम्बन्ध है, अटूट सम्बन्ध है। विज्ञान के खोजे हुए नियमों का यह स्वभाव है। क्या चमत्कारों की इस नियम-बद्ध प्राकृतिक विश्व में जगह हो सकती है ? चमत्कार का क्या अर्थ है ? (i) चमत्कार का अर्थ असाधारण घटना नहीं। मनुष्य का चांद पर जाना असाधारण घटना है परन्तु इसे चमत्कार नहीं कह सकते क्योंकि यह असाधारण घटना प्राकृतिक नियमों की जानकारी और उस सत्य ज्ञान का नियमों अनुसार प्रयोग से ही सम्भव हुई। (ii) चमत्कार का अर्थ वह घटना नहीं जिसकी अब तक हमारे पास कोई व्याख्या न हो। कैन्सर का अब तक चिकित्सा विज्ञान कोई कारण नहीं ढूंढ़ पाया। उसकी अब तक कोई व्याख्या नहीं। परन्तु कोई भी कैन्सर को चमत्कार नहीं कहता। (iii) चमत्कार का अर्थ कोई विरली घटना नहीं। सूर्य ग्रहण विरली घटना है। यह बरसों के बाद लगता है। मिथ्याचारी लोग इसे चाहे चमत्कार कहें, इसको दैवीकरण क्यों न बताएं। आज हम जानते हैं कि सूर्य ग्रहण लगने के प्राकृतिक कारण हैं और वह एक नियमबद्ध घटना है। साधारण लोग तर्क और विज्ञान से शून्य होने के कारण और पक्षपाती ईश्वरवादी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने की प्रबल इच्छा के कारण विरली घटनाओं तथा व्याख्यारहित घटनाओं को ईश्वरीय चमत्कार मान लेते हैं। मन की शक्तियों का अब तक बहुत सीमित ज्ञान हमारे पास है। मनोविज्ञान का केवल इसी शताब्दी में अध्ययन आरम्भ हुआ है जहां भौतिक विज्ञान को तीन सौ वर्ष हो चुके हैं। मनोविज्ञान के अध्ययन में भौतिक विज्ञान की अपेक्षा अत्यधिक कठिनाइयां हैं। वह अभी अपना रास्ता ढूंढ़ नहीं पाया। मनुष्य की मानसिक

शक्तियों के कार्य का ज्ञान बहुत अधूरा है। मनुष्य की मानसिक शक्तियां क्या कुछ कर सकती है वह अब तक हम नहीं जानते। कई असाधारण घटनाएं जिनकी अभी तक मनोविज्ञान के पास कोई व्याख्या नहीं, उन्हें मिथ्याचारी दैवी कहते हैं जैसे भूतकाल में सूर्य ग्रहण को दैवी कहते थे। किसी अलौकिक घटना के होने का अर्थ यह नहीं कि उसका कारण अन्य प्राकृतिक घटनाएं नहीं परन्तु दैवी कारण है अर्थात् वह चमत्कार है। प्राकृतिक विश्व में क्या कुछ सम्भव है? इसका अनुमान हम आज जो कुछ वास्तव में घटित पाते हैं वहीं तक सीमित नहीं। विज्ञान प्राकृतिक शक्तियों की खोज खत्म नहीं कर पाया। वह इस संग्राम में जुटा हुआ है और विज्ञान का इतिहास इस बात की साक्षी है कि शक्तियों के ज्ञान के बढ़ने पर नई से नई घटनाएं पैदा की जा सकती हैं जो पहले न हो पाती थीं। आज हम हजारों मील की दूरी से रेडियो सुन सकते हैं या टैलिविज़न देख सकते हैं क्योंकि जिन शक्तियों द्वारा यह घटनाएं हो सकती हैं उनका पहले ज्ञान न था। स्पष्टतया किसी असाधारण या अलौकिक घटना के होने पर सत्य ज्ञान की यह ही मांग है कि उसकी वैज्ञानिक विधि द्वारा अन्य प्राकृतिक घटनाओं में व्याख्या ढूंढ़ी जावे और इस प्रकार उस घटना का नियम जाना जावे। ईश्वर में वर्णन ढूंढ़ने से अलौकिक घटना अलौकिक ही रह जाती है और उसकी कोई व्याख्या नहीं होती। प्राकृतिक विश्व में ऐसी घटनाएं हैं जिनका हमारे पास कोई वर्णन नहीं। ऐसी घटनाएं भी हो सकती हैं जो आज तक नहीं हुई परन्तु इन्हें चमत्कार नहीं कहा जा सकता। इन्हें चमत्कार प्रमाणित करने के लिए यह दिखाना पड़ेगा कि इन घटनाओं की विशेषता क्या है जो अन्य प्राकृतिक घटनाओं में नहीं, और जिनकी कोई प्राकृतिक घटना कारण नहीं हो सकती। जब तक यह तार्किक परिस्थितियां पूरी न हों तब तक हम किसी असाधारण, अलौकिक या विरली घटना को चमत्कार नहीं कह सकते। अब तक ईश्वरवादी चमत्कार की घटनाओं के विशेष चिन्ह, जिनसे वे प्राकृतिक घटनाओं से पृथक् हो सकें नहीं बता पाए और इसलिए उनका अलौकिक घटना को चमत्कार कहना आधार रहित है।

यदि घटनाएं नियमबद्ध न हों तो चमत्कार नहीं होते। यदि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को ठीक अनुपात में बिजली द्वारा मिला दिया जाए और उससे कभी पानी पैदा हो, कभी गाजर पैदा हो, कभी मूली पैदा हो, कभी खरगोश पैदा हो, कभी मनुष्य का बच्चा पैदा हो, तो अगली बार यदि ईंट पैदा हो जाए तो अचम्भे की बात नहीं। कोई चमत्कार नहीं। यदि मनुष्य के जन्म का कोई नियम न हो और स्त्रियां पुरुष का वीर्य प्राप्त किये बिना गर्भवती हो जावें तो ईसा का जन्म करामात न होगा। ईसा का जन्म करामात इसलिए माना जाता है, क्योंकि मनुष्य का बच्चा पुरुष के वीर्य और स्त्री के रजाणु के जोड़ से एक होने पर जन्म लेता है और ईसा का जन्म इस मनुष्य जन्म के स्थापित नियम को भंग करता है। वैज्ञानिक और चमत्कारवादी दोनों इस बात पर सहमत हैं कि विश्व नियमबद्ध है क्योंकि चमत्कार-वादी को चमत्कार की संभावना के लिए यह ज़रूरी है कि वह प्रकृति में नियमबद्धता को माने।

यदि हमने नियम का अर्थ समझ लिया है, और चमत्कार का अर्थ समझ लिया है तो हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि यह कहना विचार विरोध है कि चमत्कार हो सकते हैं। ऐसा कहने का अर्थ इसके बराबर है कि न भंग होने वाला नियम भंग हो सकता है। जब नियम अभंगनीय है तो वह भंग कैसे हो सकता है? चमत्कार दो विपरीत विचारों का जोड़ है, विश्व नियमबद्ध है, और विश्व नियमबद्ध नहीं।

यदि विश्व नियमबद्ध है तो चमत्कार नहीं हो सकते। यदि विश्व नियमबद्ध नहीं तो भी चमत्कार नहीं हो सकते। चमत्कार असंभव हैं। अतएव चमत्कार ईश्वर विश्वास के साक्षी या प्रमाण नहीं बन सकते।

हमने दिखाया कि चमत्कार या करामात का विचार तार्किक दृष्टि से असंगत है। यह नियम पर आधारित है परन्तु नियम इसे जगह नहीं दे सकता। नियम और करामात में तनाव है और यह तनाव करा-मात के विश्वास को अस्थिर बना देता है।

चमत्कार का विचार तार्किक दृष्टि से ही असंतोषजनक नहीं, साक्षी दृष्टि से भी वह अविश्वसनीय है। किसी भी घटना का ज्ञान अनुभव या

प्रेक्षण द्वारा ही होता है। हम प्रेक्षण द्वारा ही जानते हैं कि पानी आग पर रखने से गर्म हो जाता है। साधारण घटनाओं का ज्ञान प्रेक्षण द्वारा होता है। परन्तु कुछ अन्य ज्ञान प्रयोग द्वारा भी हो सकते हैं। आक्सीजन और हाईड्रोजन के विशेष अनुपात में बिजली द्वारा मिलाने पर पानी का बनना प्रयोग द्वारा ही सम्भव है। प्रेक्षण और प्रयोग ही घटनाओं के होने के साक्षी हैं। विज्ञान प्रेक्षण तथा प्रयोग द्वारा घटनाओं के सम्बन्ध या नियम का ज्ञान पाता है। ऐसा ज्ञान केवल एक बार के प्रेक्षण और प्रयोग पर सीमित नहीं। विज्ञान द्वारा प्राप्त नियम प्रत्येक देश की प्रयोगशालाओं में हज़ारों बार परखे जाते हैं। इसलिए इन नियमों के लिए बहुत प्रबल और निर्विवाद साक्षी वर्तमान है। यह नियम निर्विवाद घटनाओं पर आधारित हैं। इसलिए यदि कोई व्यक्ति इन नियमों के विरुद्ध किसी घटना अर्थात् चमत्कार की सहज साक्षी दे तो स्वीकार करने योग्य नहीं क्योंकि जहां नियम के लिए हज़ारों मन भारी साक्षी है वहां इस व्यक्ति की चमत्कार सम्बन्धी साक्षी एक तिनके बराबर भी नहीं। सहज मानने के स्थान पर उसके सम्बन्ध में कड़ी परीक्षा आवश्यक है। क्योंकि मनुष्य की साधारण कमज़ोरी है कि वह घटना को बढ़ा-चढ़ाकर बताता है। अपने विश्वास और धर्म की सहायता के लिए झूठ का भी प्रयोग करता है, या घटनाओं को भ्रान्ति मूलक रूप में देखता है। एक बार मेरे एक एम. ए. पास विद्यार्थी ने आकर बताया कि उसने अपनी आंखों से देखा कि किस प्रकार एक जन ने एक मरे हुए व्यक्ति की कटी हुई गर्दन को उसके मरे हुए शरीर के साथ जोड़-कर उसे ज़िन्दा कर दिया। मैंने उससे पूछा कि उसने यह कहां देखा। उसने बताया कि एक प्रदर्शनी में यह जन तम्बू लगाकर और १०, १० पैसे लेकर यह करामात दिखा रहा था। मैंने उस विद्यार्थी को कहा कि जो जन इतना जटिल ऑप्रेशन कर सकता है वह विश्व प्रसिद्ध सर्जन या शल्य-चिकित्सक होगा। परन्तु तुम्हारे कहे अनुसार उसे ऐसा कोई ज्ञान नहीं। दूसरा ऐसे कमाल का ऑप्रेशन करने वाला व्यक्ति चिकित्सा विज्ञान के बड़े से बड़े हस्पताल का बड़े से बड़ा सर्जन माना जावेगा। वह १०-१० पैसे के लिए भिखारी न होगा। विद्यार्थी का विश्वास यह स्पष्ट करता है कि हममें कितनी कमज़ोरी है कि हम

ऐसी असाधारण घटना का कठोर निरीक्षण नहीं करते। इसमें सन्देह नहीं कि उस विद्यार्थी ने अपनी आंखों यह घटना देखी परन्तु यह उसका दृष्टि-भ्रम था। जादूगर दृष्टि भ्रम पैदा करता है। केवल देखना ही घटना का स्वभाव जानने के लिए यथेष्ट नहीं। घटना का स्वभाव जानने के लिए तर्क की भी ज़रूरत है। एक घटना की दूसरी घटनाओं के साथ जोड़ की भी ज़रूरत है। उन घटनाओं को और घटनाओं से अलग करके और उस घटना को विशेष अवस्थाओं में पैदा करने की ज़रूरत है। उदाहरणार्थ हमारे देश में मलेरिया की चिकित्सा के लिए कई प्रकार की बूटियां बतायी जाती हैं। चिकित्सा विज्ञान के वैज्ञानिकों ने सब ऐसी दवाईयां इकट्ठी की और प्रयोग द्वारा परीक्षा की कि इनमें से प्रत्येक दवाई का मलेरिया के रोगी के खून पर क्या असर होता है। क्या वह खून में मलेरिया के ज़हर को नष्ट करता है या नहीं। वह इस परिणाम पर पहुँचे कि इनमें से कोई भी दवाई मलेरिया के लिए चिकित्सा नहीं है। परन्तु यह बात बिना प्रयोगों के स्पष्ट नहीं हो सकती थी। कारण यह है कि मलेरिया का बुखार बिना दवाई के भी ६० या ७० प्रतिशत रोगियों में अपने आप ही ठीक हो जाता है। इसलिए प्रत्येक दवाई ६० या ७० प्रतिशत चिकित्सा सफलता प्राप्त कर सकती थी और जो रोगी राज़ी न होते थे उनके मर जाने का कारण ईश्वर की इच्छा बताया जाता था। स्पष्ट है कि किसी घटना का स्वभाव जानना कितना कठिन है। इसके लिए कितने प्रयोग चाहिएं। यदि कोई जन कहे कि उसने करामात देखी तो चाहे उसका ऐसा कहना सरलतापूर्ण क्यों न हो, विश्वास योग्य नहीं जब तक वह प्रायोगिक अवस्था में घटना न देखी जावे। अब तक किसी भी प्रयोगशाला में, यद्यपि लगभग सारी प्रयोगशालाएं ही ईश्वरवादियों की हैं, किसी ऐसी घटना के होने की साक्षी नहीं जिसे करामात कहा जा सके।

चमत्कार तार्किक और साक्षी दृष्टि से असिद्ध है। और इसलिए त्याजनीय हैं। यदि करामात नहीं हो सकती तो ईश्वर की शक्ति का प्राकृतिक विश्व में कोई निशान नहीं और इसलिए विश्व ईश्वर से पूर्ण स्वतन्त्र वर्णनीय और स्वयं स्थित है।

१७

शरीर श्रौर चेतना

ईश्वर के सम्बन्ध में विश्वास है कि वह शरीर रहित चेतना है। उसकी आंखें नहीं पर वह देखता है। उसके कान नहीं पर वह अपने भक्तों की प्रार्थनाओं को सुनता है। उसकी जिह्वा नहीं पर वह अपने भक्तों से बात-चीत करता है। वह कोई इन्द्री न रखकर सर्व इन्द्रियों के अनुभवों का ज्ञानी है। वह मस्तिष्क न रखकर भी सर्वज्ञानी चेतना रखता है।

१

हमने यह देखना है कि क्या शरीर रहित चैतन्य की परिभाषा वाला ईश्वर हो सकता है या नहीं? विश्व और मानव के स्वभाव का सत्य ज्ञान वैज्ञानिक विधि द्वारा प्राप्त होता है। क्या वैज्ञानिक विधि द्वारा प्राप्त सत्य ज्ञान शरीर रहित चेतना को मानने की आज्ञा देता है? विज्ञान यह बताता है कि पृथ्वी पर जो अस्तित्व और घटनाएं होती हैं उनका वर्णन अन्य अस्तित्वों और घटनाओं में है, प्रकृति या नेचर से बाहर नहीं। जीवित अस्तित्वों का आरम्भ विशेष भौतिक परिस्थितियों में कुछ रसायन तत्वों के जोड़ द्वारा हुआ है। जीवन का क्रमिक विकास हुआ है। पौधे जीवनधारी हैं परन्तु वे चैतन्य जीवन नहीं रखते। निम्न श्रेणी के जीवाणु चैतन्य जीवन नहीं रखते। उच्च श्रेणी के पशु चैतन्य जीवन रखते हैं। परन्तु मनुष्य इससे ऊपर की बौद्धिक चेतना रखते हैं, जिसके द्वारा वे विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य, तकनीकी विकास कर पाए हैं। विज्ञान यह बताता है कि जीवन अजीवित शक्तियों से विकसित हुआ है और जीवनधारियों में क्रमिक रूप से चेतना का विकास हुआ है।

जीवन और चेतना के विकास का क्या स्वभाव है ? विकास का यह लक्षण रहा है कि जीवन के विकास के साथ उसके विकास की परिस्थितियां उसका अछिन्न पक्ष रही हैं। जीवन का विकास भौतिक और रसायन स्थितियों में हुआ है। यद्यपि जीवन के नियम रसायन तत्वों के नियम से भिन्न हैं, तथापि जीवन का रसायन पक्ष जीवन से अछिन्न है। कोई जीवित अस्तित्व नहीं जिसका भौतिक और रसायन पक्ष न हो। इसी प्रकार चेतना का विकास शरीर के विकास के साथ-साथ हुआ है। मस्तिष्क शरीर का एक अंग है। ज्यों-ज्यों यह शारीरिक अंग अर्थात् मस्तिष्क जटिल होता गया त्यों-त्यों चेतना ने विकास पाया है। मनुष्य का मस्तिष्क पशुओं से कहीं अधिक जटिल है और संवादिक-रूप से मनुष्य की चेतना कहीं अधिक विकसित है। इस समय के महान तांत्रिक मनोवैज्ञानिक के० एस०लेशले (K. S. Lashley), डब्ल्यू० जी० पैनफील्ड (W. G. Penfield), और एच० एल० ट्यूबर (H. L. Tuber) ने अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है कि किस प्रकार हमारे मस्तिष्क और चेतना में अति घनिष्ठ संबंध हैं। मस्तिष्क की हानि या बीमारी से चेतना निम्न श्रेणी की रह जाती है और कई बार पाग़लपन में भी परिवर्तित हो जाती है। चेतना के विकास में यह नहीं हुआ कि ज्यों-ज्यों चेतना बढ़ी, त्यों-त्यों मस्तिष्क कम जटिल होता गया हो। चेतना का विकास मस्तिष्क के साथ-साथ हुआ है। चेतना और मस्तिष्क एक नहीं। चेतना के पृथक गुण हैं और मस्तिष्क के पृथक गुण हैं। चेतना के अलग नियम हैं और मस्तिष्क के अलग नियम हैं। इस भिन्नता के होते हुए भी इन दोनों का सम्बन्ध अछिन्न है।

इस लाखों और करोड़ों वर्षों के विकास को यदि शरीर और जीवन तथा शरीर और चेतना के सम्बन्ध की साक्षी माना जाए तो हम यह सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शरीर और चेतना का सम्बन्ध अविछिन्न है। शरीर के बिना चेतना उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार ऑक्सीजन के बिना अग्नि का जलना असंभव है या पानी का बनना असंभव है। हमारे पास तथ्यों की कोई साक्षी नहीं कि शरीर के बिना चेतना हो सकती है। लाखों, करोड़ों वर्षों का जीव-विकास शरीर-रहित ईश्वर के विश्वास का खण्डन करता है।

२

जीव-विकास के अतिरिक्त हमारा दैनिक निजी अनुभव भी यह बताता है कि शरीर और चेतना का सम्बन्ध अटूट है। यदि हमारी आंखें न हों तो हम देख नहीं सकते। हमारे कान न हों तो हम सुन नहीं सकते। हमारी ज़बान न हो तो हम खानपान की वस्तुओं का स्वाद नहीं ले सकते। यदि हमारी स्पर्श-इन्द्रियां न हों तो हम नर्म और कठोर, गर्म और सर्द का अनुभव नहीं कर सकते। यदि हमारा मस्तिष्क क्लोरोफार्म द्वारा सुन्न कर दिया जाए तो हम चैतन्य नहीं रहते। केवल यही नहीं कि हमारे अनुभव हमारी इन्द्रियों और मस्तिष्क पर निर्भर हैं परन्तु यह हमारे शरीर की रसायन अवस्था पर भी निर्भर हैं। किसी जन ने यदि शराब पी ली हो तो उसके शरीर की केवल रसायन अवस्था ही नहीं बदलती उसकी चेतना की अवस्था भी बदल जाती है। वह बेतुकी बातें करता है। असंगत बातें करता है। इस प्रकार ईश्वरवादी के उच्च से उच्च अनुभव शरीर अवस्था में ही संभव हैं। रहस्यवादियों का रहस्य अनुभव भी शरीर अवस्था से बंधा हुआ है। हक्सले ने प्रयोग किये हैं कि किस प्रकार मैसेलीन (Mascline) को खाने से भ्रम अनुभव हो सकता है।

आज का मनोविज्ञान बताता है कि किस प्रकार हमारी आन्तरिक ग्रन्थियों का स्राव हमारी चेतना का निश्चय करता है। उदाहरणार्थ यदि गल-ग्रन्थियों (Thyroid glands) के स्राव का बहाव कम हो तो व्यक्ति की चेतना शीघ्र ही थकावट का अनुभव करती है और अवसाद युक्त हो जाती है। यदि इन ग्रन्थियों का बहाव अधिक हो तो व्यक्ति की चेतना चिड़चिड़ी, चंचल और चिन्तायुक्त हो जाती है। यदि पोष-ग्रन्थि (Pituitary glands) का कम स्राव हो तो व्यक्ति में मुका-बले की भावना कम हो जाती है और वह डरपोक हो जाता है। यदि इन ग्रन्थियों का स्राव अधिक हो तो व्यक्ति में युद्ध-प्रवृत्ति तथा काम-प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इसी प्रकार हमारी काम भावनाओं का सम्बन्ध प्रजनन ग्रन्थियों (Gonads glands) के कम या अधिक स्राव पर आंशिक रूप में निर्भर करता है। ग्रन्थि वैज्ञानिकों का कहना है कि व्यक्ति की

चेतना और व्यवहार का निर्णय ग्रन्थियों के स्राव से बहुत प्रभावित होता है। अतएव हमारे निजी अनुभव और वैज्ञानिक प्रयोग शरीर और आत्म चेतना के अविछिन्न सम्बन्ध की साक्षी देते हैं।

२

ईश्वर के सम्बन्ध में यह विश्वास कि वह शरीर रहित चेतना है एक और तथ्य से भी अविश्वसनीय हो जाता है। आत्म-चेतना पुरुष के साथ संबंधित है। यह आत्म चेतना मनुष्य में ही पाई जाती है। पशुओं में नहीं पाई जाती। इन तत्वों के आधार पर ईसाई धर्म के दार्शनिक ईश्वर को पुरुष रूपी मानते हैं। उनकी युक्ति यह है कि हम पुरुषों में ही आत्म चेतना पाई जाती है। इसलिए सबसे उत्तम आत्म चेतना वाला अवश्य पुरुष होगा। यहां तक उनकी बात ठीक है। परन्तु वह भूल जाते हैं कि **असीमित पुरुष** असंभव विचार है और पुरुषरूपी ईश्वर असंभव है। पुरुष की **परिभाषा** में सीमितता का गुण है। ईसाई ईश्वरवादी इस बात को समझकर कहते हैं कि ईश्वर जिस अर्थ में पुरुष है वह मनुष्य रूपी पुरुष से भिन्न है। परन्तु वे इस ईश्वररूपी पुरुषत्व की परिभाषा करने में असमर्थ हैं। पुरुष की परिभाषा में शरीर सम्मिलित है। शरीर द्वारा ही हम एक-दूसरे को पहचानते हैं। शरीर रहित पुरुष का हमें कोई अनुभव नहीं।

ब्रह्मवादी ईश्वर को पुरुषरूपी नहीं मानते। वे ईश्वर को अपुरुष कहते हैं। पुरुषरूपी ईश्वरवादी दार्शनिक कहते हैं कि अपुरुष अस्तित्व की आत्म चेतना नहीं हो सकती। यह हमारे अनुभव के विरुद्ध है। अपुरुष चेतना तो पूर्ण चेतना-रहित जड़ अस्तित्व होगा।

हमें दो विकल्पों में चुनाव करना होगा। यदि ईश्वर को आत्म चैतन्य माना जाए तो उसे पुरुष मानना होगा और उसे सीमित मानना होगा। उसे शरीरयुक्त मानना होगा। अर्थात् उसे मनुष्य का बड़ा भाई मानना होगा और उससे ईश्वर की पदवी छीननी होगी। यदि ईश्वर अस्तित्व माना जाए तो उसे जड़ अस्तित्व मानना होगा और वह ईश्वर नहीं रहेगा।

४

ईश्वरवादी कह सकते है कि आप संभव और असंभव को केवल तत्वों के अर्थ में ले रहे हैं, **तार्किक** अर्थ में नहीं ले रहे। तथ्यों की दृष्टि से (जो विज्ञान विधि की दृष्टि है) हम ईश्वर के शरीर रहित चेतना होने का अनुमान नहीं निकाल सकते। तथ्यों की दृष्टि से तो शरीर रहित ईश्वर उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार अग्नि का बिना आक्सीजन के जलना है। परन्तु तार्किक दृष्टि से यह अनुमान संभव है कि चेतना शरीर-रहित हो। प्लेटो एक महान पश्चिमी दार्शनिक हैं, जिन्होंने एक युक्ति दी है कि किस प्रकार शरीर रहित आत्मा या चेतना हो सकती है। हम सब का अनुभव है कि हम अपने शारीरिक अंगों जैसे हाथ, भुजाएं और टांगों का प्रयोग करते हैं। इसलिए हम अपने शरीर से भिन्न हैं। मैं और मेरा शरीर एक नहीं। इसलिए 'मैं' का विषय आत्मा और केवल आत्मा ही है। शरीर और आत्मा पूर्णतः भिन्न हैं। कई अवसरों पर हमारा अनुभव है कि शारीरिक वासनाएं हमारे न चाहने पर भी अपनी तृप्ति कर लेती हैं और कई बार हमारी आत्मा शारीरिक वासनाओं के विरुद्ध खड़ी हो जाती है और उस पर विजयी होती है। यह नीति अनुभव भी शरीर और आत्मा की भिन्नता को स्पष्ट करता है। इस भिन्नता के आधार पर प्लेटो ने परिणाम निकाला कि आत्मा और शरीर अलग-अलग द्रव्य हैं। हमारी भारतीय संस्कृति में भी इस प्रकार के विचार की प्रथा है। हमारे धर्म-दार्शनिक शरीर की पिंजरे से उपमा करते हैं और आत्मा को पंछी की उपमा देते हैं। जैसे पिंजरा और पंछी अलग-अलग हैं और पंछी का होना पिंजरे पर निर्भर नहीं करता उसी प्रकार आत्मा का होना शरीर पर निर्भर नहीं करता। जैसे पिंजरा पंछी के लिए एक कैद है, वैसे ही आत्मा के लिए शरीर एक कैद है। जैसे पंछी के लिए पिंजरे से निकलना मोक्ष है वैसे ही मनुष्य के लिए शरीर रहित जीवन प्राप्त करना मोक्ष है। आज के भाषा-विश्लेषण दर्शन की भाषा में यह युक्ति इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है। 'मैं' या पुरुष सम्बन्धी शब्द शरीर को निर्देशित नहीं करते इसलिए वह शरीर रहित आत्मा को निर्देशित करते हैं।

इस युक्ति की कमजोरियों को कई प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। यह युक्ति आत्मा और शरीर की भिन्नता को स्पष्ट तो करती है परन्तु इस भिन्नता पर यह गलत परिणाम निकालती है, कि क्योंकि आत्मा और शरीर भिन्न हैं इसलिए यह पृथक अस्तित्व रख सकते हैं। हमारी आत्मा के नियम शारीरिक नियमों में वर्णित नहीं किए जा सकते। यह जड़वाद की मिथ्या है। न ही शरीर को आत्मा की परछाईं या आभास या अविद्या समझा जा सकता हैं। यह आदर्शवाद की मिथ्या है। शरीर और आत्मा भिन्न हैं। यह बात इस युक्ति में सत्य है, परन्तु भिन्नता से पृथकता सिद्ध नहीं होती। यह इसका तार्किक दोष है। लाल रंग के तिकोन लीजिए। तिकोन का लाल रंग और आकृति भिन्न हैं। परन्तु यह नहीं हो सकता कि खिंची हुई तिकोन का कोई रंग न हो और लाल रंग कोई न कोई आकार धारण न करे। इन दोनों की भिन्नता के होते हुए भी इन दोनों का सम्बन्ध अटूट है। इसलिए प्लेटो केवल भिन्नता के आधार पर आत्मा के लिए शरीर रहित पृथक अस्तित्व स्थापन करने में असफल है। उसे आगे यह सिद्ध करना होगा कि आत्मा एक द्रव्य है।

५

द्रव्य का क्या अर्थ है? हम अनुभवों और अनुभव कर्त्ता में भेद करते हैं। हमारे अनुभव परिवर्तित होते रहते हैं। बचपन से बुढ़ापे तक हमारे अनुभवों का तांता बंधा रहता है। यह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। मेरे बचपन के अनुभव कुछ और हैं। यौवनावस्था के अनुभव कुछ और हैं। प्रौढ़ावस्था के अनुभव इनसे भिन्न हैं। इन अनुभवों के प्रभाव के होते हुए भी मैं समझता हूं कि 'मैं' इन अनुभवों में वही (self identical) रहता हूं। मैं कहता हूं 'मैं' वही हूं चाहे मैं बहुत बदल गया हूं। मैं अनुभवों का अधिष्ठान (Substratum) हूं। यह द्रव्य का एक अर्थ है। जब कहते हैं कि आत्मा द्रव्य है इसका अर्थ यह भी है कि आत्मा के अनुभव तो बदलते रहते हैं किन्तु आत्मा स्वयं नहीं बदलती। वह परिवर्तन के नियम के आधीन नहीं। उसका अस्तित्व दूसरे अस्तित्वों पर निर्भर नहीं करता। उसका वर्णन उससे बाहर नहीं।

वह स्वयं में पर्याप्त है। जब आत्मा के द्रव्य रूप में ये लक्षण हैं तो वह शरीर पर निर्भर नहीं। उसका शरीर बिना अस्तित्व हो सकता है।

आत्मा को इन अर्थों में द्रव्य समझना गलती है। यह प्रकृति या नेचर के नियमों के विरुद्ध है। विश्व में परिवर्तन का नियम सर्वव्यापी है। कोई भी अस्तित्व नहीं जिसे हमने अनुभव में परिवर्तित होते न पाया हो। बुद्ध का अनातावाद सत्य है। हमारे परिवर्तन रहित आत्मा का कोई अनुभव नहीं है। फिर विश्व में कोई भी अस्तित्व नहीं जो दूसरों पर निर्भर नहीं करता। कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जिसका कारण न हो और जो बने रहने के लिए परिस्थितियों पर निर्भर न करती हो। यह पतिका-समुपदः का सिद्धान्त है। एक बालक का जन्म लिंगी तत्वों के सहयोग द्वारा गर्भ में पलकर होता है। वह मनुष्य समाज में रह-कर मनुष्य जीवन को प्राप्त होता है। यदि उसे विकास की परिस्थि-तियां न मिलें तो वह मृत्यु को प्राप्त होगा। जब कोई अस्तित्व नहीं जो परिस्थितियों से ऊपर हो तो कोई भी अस्तितव द्रव्य नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्यआत्मा के जन्म की तिथि है। उसका जीवित रहना भी परिस्थितियों पर आधारित है। अनुभवों द्वारा आतमा वही नहीं रहता बदलता रहता है। वह शरीर के परिवर्तनों से बदलता है। वह भावों और विचारों के परिवर्तन से बदलता है। उसका जीवित रहना शारी-रिक और आध्यात्मिक नियमों पर निभर है।

आत्मा को द्रव्य रूप में मानने का दूसरा आधार दोषयुक्त तर्क सिद्धान्त है। पश्चिमी दर्शन में अरस्तु के समय से यह गलत तार्किक सिद्धान्त रहा है कि प्रत्येक तार्किक वाक्य (Proposition) उद्देश्य विधेय के रूप हैं। मैं कहता हूं; 'यह चाक़ सफेद है,' 'यह चाक़ गोल हैं," 'यह चाक स्पर्श करने में नर्म है।' इन सब तार्किक वाक्यों में सफेद, गोल, नर्म सब विधेय हैं। यह सब विधेय उद्देश्य चाक़ के गुण हैं। चाक़ स्वयं कोई गुण नहीं। शब्द 'सफेद', 'गोल', 'नर्म' जो गुणों को निर्देशित करते हैं इन के सम्बन्ध में हमारा अनुभव है कि वास्तव में ऐसे गुण हैं। तर्क शास्त्रीय इस भूल में पड़ गए कि शब्द चाक भी, शब्द सफेद, गोल, और नर्म की न्याईं वास्तविकता को निर्देशित करता है और ऐसी वास्त-विकता को द्रव्य कहा। प्रत्येक अस्तित्व में दो पक्ष हैं, द्रव्य और गुण।

द्रव्य वह है जो बदलता नहीं परन्तु बदलते हुए गुणों का अधिष्ठान है। अधिष्ठान बदलता नहीं और गुण बदलते रहते हैं। आत्मा द्रव्य है और इसके अनुभव गुण हैं। मैं या मेरा आत्मा सदा वह ही रहता है यद्यपि उसके अनुभव बाल्यकाल से बुढ़ापे तक बदलते रहते हैं। अनुभव के बिना भी आत्मा रह सकता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन यह सिद्धान्त रखते हैं कि आत्मा के अनुभव तब तक ही होते हैं जब तक वह शरीर के साथ संगत होती है। मोक्ष अवस्था शरीर रहित अवस्था है। उसमें आत्मा केवल द्रव्य रूप में अनुभव रहित जीवन व्यतीत करती है।

रस्सल के अनुसार इन द्रव्य वादियों की भूल यह है कि इन्होंने साधारण वाक्यों के आकार को वास्तविकता का ढांचा समझा। यह सुविधा से स्पष्ट किया जा सकता है कि द्रव्य का विचार अर्थ रहित है। द्रव्य को गुणों का आधार और गुणों से पूर्णतः भिन्न माना जाता है। यदि द्रव्य और गुण किसी अस्तित्व के दो भिन्न पक्ष हैं तो दोनों के अलग-अलग गुण होने चाहिएं। यदि गुण अलग-अलग न हों तो इन्हें भिन्न क्योंकर समझा जा सकता है और उसे उस अस्तित्व का अलग पक्ष कैसे माना जा सकता है। इस बात को इस तरह से भी स्पष्ट किया जा सकता है—दो द्रव्य लीजिए, जैसे दो आत्मा दो द्रव्य हैं। अब यह दोनों द्रव्य क्यों कर भिन्न हैं। यह दोनों द्रव्य गुणों को लेकर भिन्न नहीं। क्योंकि इस द्रव्यवाद के अनुसार गुणों की भिन्नता से पहले इन द्रव्यों की गिनती में भिन्नता होनी चाहिए। गुणों से पहले यह दो अलग-अलग द्रव्य होने चाहिएं। परन्तु गुणों की भिन्नता बिना इनमें कोई भिन्नता नहीं। यदि इन द्रव्यों में कोई भिन्नता नहीं तो यह कैसे मालूम पड़े कि यह दो हैं।[1]

द्रव्य के अवधारण का आरम्भ इस मिथ्या से हुआ कि भाषा के ढांचे को विश्व का ढांचा समझा गया। भाषा का ढांचा केवल हमारे वर्णन की सुविधा के लिए बनाया गया है ? यह कहने के स्थान पर कि सफेद, गोल, नर्म और बोर्ड पर लिखने वाली चीज़ लाओ, हम कहते हैं कि चाक

---

१. बरट्रेन्ड रस्सल-दी फ़िलासफ़ी औफ़ लाई बनीज़ अध्याय ४,५ पृष्ठ ४९, ५९-६०।
Bertrand Russel, "*The Philosophy of Leibtniz*", chapter 4,5 p. 49, 59–60.

लाओ। जिसे हम चीज़ कहते हैं वह गुणों के परस्पर सम्बन्धों का नाम है। और गुणों और इनके सम्बन्धों से अतिरिक्त कोई वास्तविक पक्ष नहीं जिसके यह गुण और सम्बन्ध हैं। गुणों और सम्बन्धों का जोड़ परिवर्तित होता रहता है। इसलिए विश्व में कोई परिवर्तन रहित स्वयं पर्याप्त द्रव्य नहीं।

तथ्य और तर्क द्रव्य के विचार का खण्डन करते हैं। आत्मा द्रव्य नहीं। जब आत्मा द्रव्य नहीं तो उसके स्वतन्त्र, पृथक परिवर्तन रहित और शरीर रहित जीवन का प्रश्न ही नहीं उठता। प्लेटो की युक्ति मिथ्या है।

शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अति घनिष्ठ ही नहीं, वह **अद्वितीय** भी है। यह कहना मिथ्या है कि 'मैं शरीर हूँ' और यह कहना भी मिथ्या है कि 'मैं शरीर रखता हूँ'। मैं शरीर उस प्रकार नहीं रखता जिस प्रकार मैं घड़ी रखता हूँ। मेरे शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध विश्व की शेष अन्य चीज़ों से भिन्न है। मेरा शरीर मेरी आत्मा को विश्व में स्थित करता है और मुझे दृष्टिकोण प्रदान करता है जो मेरे लिए विश्व को जानना संभव करता है। शरीर के बिना मेरा विश्व में कोई स्थान नहीं। शरीर द्वारा ही हम एक दूसरे की भिन्नता करते हैं, पहचान करते हैं। 'मैं' का शब्द केवल आत्मा को निर्देशित नहीं करता वह **साधारणतः मेरे समस्त व्यक्तित्व**—शरीर-आत्मा—को निर्देशित करता है और विशेष अवस्था में ही कभी आत्मा को या कभी शरीर को निर्देशित करता है। ठीक है कि 'मैं' सम्बन्धी पुरुष शब्द शरीर के साथ एक नहीं हैं। परन्तु न ही शरीर को पृथक करके उसका प्रयोग करते हैं। 'मैं' के विचार में शरीर सम्मिलित है। जब मैं कहता हूँ, 'मैं सैर को गया' तो मेरा अर्थ यह नहीं कि मेरी आत्मा सैर को गई। इसी प्रकार जब मैं कहता हूँ 'मैं रोगी हूँ', तो मैं अपने आपको रोग अवस्था से पृथक नहीं कर रहा, यद्यपि मेरा रोग शरीर का रोग है। जब मैं कहता हूँ कि 'मैं सोच रहा हूँ', तो मैं 'मैं के विचार' को अपने समस्त व्यक्तित्व—शरीर-आत्मा—से पृथक नहीं कर रहा, यद्यपि इस कथन में मेरा आत्मा के पक्ष पर अधिक ज़ोर है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'मैं' के विचार में शरीर और आत्मा दोनों सम्मिलित हैं।

मैं आत्मा **और** शरीर नहीं **यदि** इसका अर्थ यह समझा जाए कि ये दोनों पृथक और स्वतन्त्र अस्तित्व हैं और एक दूसरे के बिना जीवित रह सकते हैं। मैं शरीर-आत्मा हूँ, अर्थात् शरीर और आत्मा पृथक और स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। दोनों एक दूसरे के होने पर सम्भव हैं। न शरीर आत्मा के बिना और न आत्मा शरीर के बिना जीवित रह सकता है। तथ्यों के स्तर पर यह अविवादित सत्य है। दार्शनिक प्राक्कल्पना के स्तर पर भी हिन्दू दार्शनिक यह अभिकथन करते हैं कि शरीर और आत्मा का सम्बन्ध **अनादि** है। परन्तु यह नित्य नहीं। यह मोक्ष अवस्था में टूट जाता है। तथ्यों की दृष्टि से हिन्दू दर्शन का पहला अभिकथन सत्य है कि आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध सदा से पाया जाता है। परन्तु उसके दूसरे अभिकथन के लिए कोई तथ्य नहीं कि यह सम्बन्ध मोक्ष अवस्था में टूट जाता है। जीवन मुक्ति की अवस्था में शरीर और आत्मा का उतना ही अटूट सम्बन्ध है जितना बंद अवस्था में अटूट सम्बन्ध है। विधेय मोक्ष में आत्मा शरीर रहित है इसकी कोई साक्षी नहीं। रामानुज आचार्य के दर्शन के अनुसार विधेयमोक्ष की अवस्था में भी आत्मा का सूक्ष्म शरीर होता है। अतएव तथ्य तथा दार्शनिक प्राक्कल्पना यह सिद्ध नहीं कर पाए कि आत्मा या चेतना शरीर रहित है। यदि इस पृथ्वी पर जीते जो आत्मा शरीर को छोड़कर फिर लौट आ सकती तो हमारे पास साक्षी हो जाती कि आत्मा बिना शरीर के जीवित रह सकती है। अब तक किसी **वैज्ञानिक प्रयोगशाला** में कोई प्रयोग नहीं हुआ जिसमें आत्मा शरीर को छोड़कर फिर लौट आ सकी हो। ऐसे प्रयोग के करने की परिस्थितियाँ क्योंकर हो सकती हैं? जब आत्मा शरीर को पूर्ण रूप से छोड़ जाती है तो शरीर मृत्यु को प्राप्त होता है। यह तो सब मानते हैं। यदि शरीर मर चुका हो तो उसमें आत्मा के लौट आने की कोई प्रयोगिक सत्यापन नहीं।

१७वीं शताब्दी के दार्शनिक डेकार्ट (Descartes) आत्मा का शरीर से स्वतन्त्र अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए इस प्रकार विवाद करते हैं। वे कहते हैं "मैं यह साफ़ देखता हूँ कि मैं ख्याल बांध सकता हूँ कि मेरा कोई शरीर नहीं और कोई भौतिक दुनियाँ या जगह नहीं जहाँ मैं स्थित हूँ। ऐसी कल्पना के करने पर भी मैं यह नहीं समझता

कि मैं नहीं रहा। मैं (मेरा आत्मा) एक द्रव्य है जिसका पूर्ण सार चेतना अनुभव है। यह किसी जगह पर स्थित नहीं, और न ही किसी भौतिक अस्तित्व पर निर्भर है। अतएव मैं अर्थात् आत्मा जिसके कारण ही मेरा अस्तित्व है, शरीर से पूर्ण भिन्न है और इसलिए यदि शरीर न भी हो तो मेरे आत्मा के अस्तित्व का बाल-बांका नहीं होता।"

डेकार्ट की युक्ति के दो पक्षों का हम पहले ही खंडन कर आए हैं। शरीर और आत्मा की पूर्ण भिन्नता से आत्मा के पृथक स्वतन्त्र अस्तित्व की संभावना सिद्ध नहीं होती। फिर आत्मा के शरीर रहित जीवन की संभावना तभी सिद्ध हो सकती है यदि आत्मा को द्रव्य प्रमाणित किया जाए। हमने देखा कि द्रव्य का विचार विश्वव्यापी परिवर्तन नियम तथा कार्य-कारण के नियम के विरुद्ध है। इसका तार्किक आधार भी अरस्तु का दोष युक्त तर्क शास्त्र है।

डेकार्ट की युक्ति का एक और पक्ष है जिसकी अब हमने टीका टिप्पणी करनी है। डेकार्ट का यह विचार मिथ्या है कि चेतना स्वयं में पर्याप्त है। उसे अपने से बाहर किसी अस्तित्व की आवश्यकता नहीं। डेकार्ट के देशवासी आज के महान दार्शनिक सार्त्रे का कहना है कि चेतना सदा विषय की ओर निर्देशित होती है यद्यपि उसकी विषय से पूर्ण भिन्नता है। जब मैं क्रोधित होता हूँ तो मेरे क्रोध का कोई विषय होता है। जब मैं प्यार करता हूँ तो भी प्यार का कोई विषय होता है। जब मैं देखता हूँ तो देखने का कोई विषय होता है। चेतना की अपनी कोई अन्तर्वस्तु (contents) नहीं। वह स्वयं में **पूर्ण खाली** है। विश्व की वस्तुएं और अन्य मनुष्य उसकी अन्तर्वस्तु हैं। चेतना स्वयं कोई विषय रचित नहीं कर सकती। वह स्वयं को अपना विषय नहीं बना सकती। क्योंकि वह अन्तर्वस्तु से खाली है। उसका अस्तित्व जगत् के विषयों पर लीनता द्वारा ही आधारित है। इसका बाह्य भौतिक जगत् के बिना कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। डेकार्ट बहुत भूल में हैं जब वह यह समझते हैं कि चेतना अपना विषय आप हो सकती है और स्वयं में पूर्ण हो सकती है।

वर्तमान काल के फ्रांस के एक और दार्शनिक एम० एम० पौंटी

(M. M. Ponty) का कहना है कि चेतना **मूल रूप** से और प्रधान रूप से प्रत्यक्षपरक है। प्रत्यक्षपरक अनुभव शरीर के बिना वर्णन नहीं हो सकता। प्रो० जौन हौसपरस (Prof. John Hospers) अपनी पुस्तक 'एन इन्ट्रोडकशन टू फिलोसफीकल अनैलेसिज़' (An Introduction to Philosophical Analysis) में एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं कि शरीर के बिना हम अपने प्रत्यक्षपरक अनुभव का वर्णन नहीं कर सकते। मान लो एक सुबह को जब आप उठते हैं तो आप अपने आपको अपने शरीर के बिना पाते हैं। परन्तु आपके प्रत्यक्षपरक अनुभव ज्यूं के त्यूं रहते हैं। आप उठते ही सूरज की रोशनी के दर्शन करते हैं यद्यपि आपकी आँखें नहीं। आप दर्पण में देखते हैं तो अपनी शकल और शरीर देखने के स्थान पर आपके पीछे की चीज़ें दिखाई देती हैं। आप चलना चाहते हैं परन्तु आपकी टांगें नहीं। लेकिन आपको आगे की चीजें बड़ी होती दीखती हैं और पीछे की चीज़ें छोटी होती दीखती हैं। कभी आप एक तरफ की चीजें देखतेहैं कभी दूसरी तरफ की चीज़ें देखते हैं। क्या ऐसे प्रत्यक्षपरक अनुभव का शरीर के बिना वर्णन हो सकता है ? ठीक है आप आँखों के बिना देखते हैं। परन्तु जब आपने **एक तरफ से दूसरी तरफ** देखा तो यह कैसे हुआ ? साधारण जीवन में जब हम एक तरफ से दूसरी तरफ देखने का फैसला करते हैं तो गर्दन को फेर लेते हैं। परन्तु इस शरीर-रहित अवस्था में तो आपकी गर्दन ही नहीं तो आप क्योंकर एक तरफ से दूसरी तरफ देख सकते हैं। फिर आप इस अनुभव का कैसे वर्णन करेंगे कि ज्यों-ज्यों आप वस्तुओं के पास जाते हैं वह बड़ी दीखती हैं, और जो पीछे छोड़ आए हैं वह छोटी दीखती हैं। आपकी तो टाँगें ही नहीं तो आप चीज़ों के नज़दीक कैसे पहुँच सकते हैं या उनसे दूर कैसे हो सकते हैं। फिर आप क्योंकर कह सकते हैं कि आपके आगे की वस्तुएं आकार में बड़ी हो रही हैं और पीछ की चीज़ें आकार में छोटी हो रही हैं। आपका तो आगे पीछे कुछ है ही नहीं। शरीर का आगे और पीछे होता है। यदि आप सब कुछ देखते हैं तो आप वस्तुओं को छोटा और बड़ा क्योंकर देख सकते हैं। आप आँखें बंद नहीं कर सकते ताकि आप किसी वस्तु को न देखें। न ही आप किसी विषय से मुँह मोड़ सकते हैं क्योंकि आपका मुँह ही

नहीं। हमारे प्रत्यक्षपरक अनुभवों के वर्णन में वस्तुओं के गुण और हमारे और दूसरों के शारीरिक व्यवहार सम्मिलित हैं। इनके बिना प्रत्यक्षपरक अनुभवों का वर्णन नहीं हो सकता। आज के भाषा-विश्लेषण दर्शन के अनुसार किसी शब्द का ठीक अर्थ उसका प्रयोग बताता है। मैं 'देखने' का ठीक अर्थ समझता हूँ जब मैं कहता हूँ, "वह वस्तु बहुत दूर थी तो मैं पहचान नहीं पाया। परन्तु जब वह वस्तु नज़दीक आ गई तो मैंने देखा वह हवाई जहाज़ था।" या "उसने मुझ नहीं देखा क्योंकि उसका मुँह दूसरी ओर था।" या "मैं उसके पास से गुज़रा ताकि वह मुझे देखले।" इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि **देखने** का सम्बन्ध **केवल मानसिक अवस्था को निर्देशित करना नहीं**, परन्तु वस्तुओं के गुणों अर्थात् उनके नज़दीक या दूर होने या छोटे या बड़े होने या धुंधले या स्पष्ट होने तथा अपने या दूसरों के व्यवहार से बंधा हुआ है। यदि बाह्य दुनिया और दूसरों के व्यवहार का वर्णन छोड़ दिया जाए तो 'देखने' का अर्थ ही क्या रह जाता है ? यदि यह सच है कि देखने सुनने तथा अन्य प्रत्यक्षपरक अनुभवों तथा संवेगों के अर्थ में बाह्य अस्तित्वों और शरीर के व्यवहार को सम्मिलित किए बिना नहीं हो सकता तो तार्किक दृष्टि से चेतना शरीर के बिना नहीं हो सकती।

आत्मावादी कह सकते हैं कि आपने **शरीर सम्बन्धी** अनुभव अर्थात् प्रत्यक्षपरक तथा संवेगात्मक अनुभवों को ही लिया है। इन अनुभवों में शरीर और बाह्य दुनिया अच्छिन्न पक्ष हैं। इसलिए ऐसे अनुभवों के लिए तो आत्मा को शरीर बद्ध होना ही होगा। यदि आत्मावादी यह मानते हैं तो फिर वह यह नहीं कह सकते कि ईश्वर बिना आंखों के 'देखता' और बिना कानों के 'सुनता' है और बिना शरीर के 'दया' जैसे भाव रखता है। इस विश्व के ज्ञान के लिए प्रत्यक्षपरक अनुभव **अनिवार्य** है। भौतिक विज्ञान जीवविज्ञान, समाज विज्ञान सब प्रत्यक्ष अनुभव का सहारा लेते हैं। क्योंकि ऐसे ज्ञान में प्रत्यक्षपरक दुनियाँ सम्मिलित है। यदि यह सच है तो ईश्वर सर्वज्ञानी क्योंकर हो सकता है। इस विश्व के ज्ञान का अनिवार्य पक्ष प्रत्यक्षपरक अनुभव है। अरस्तू के सिद्धान्त में ईश्वर को इस विश्व का कोई ज्ञान नहीं।

तर्क बुद्धिमत आत्मावादी कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्षपरक ज्ञान नहीं। आत्मा का सार अमूर्त चिंतन है। इंगलैंड के महान दार्शनिक विटकनस्टाईन (Wittgenstein) का कहना है कि 'चिंतन' का शब्दार्थ तभी जान सकते हैं जब हम इस शब्द का प्रयोग देखें; अर्थात् किन अवस्थाओं में चिंतन के शब्द का ठीक प्रयोग है और किन अवस्थाओं में ठीक प्रयोग नहीं है। उदाहरणार्थ किन अवस्थाओं में यह कहना ठीक होगा कि "मैं सोच रहा हूँ कि अब क्या समय है?' और किन अवस्थाओं में यह कहना ठीक न होगा। मान लो मैं यह पंक्ति उपन्यास में पढ़ रहा हूँ। स्वभावतः मैं समय के विषय में नहीं सोच रहा। मान लो मैं मदरासी हूँ और हिन्दी की इस पंक्ति का उच्चारण सीख रहा हूँ। इस अवस्था में भी मैं समय के विषय में नहीं सोच रहा। हाँ, यदि मुझे भूख लगी हुई हो तो मैं सोच रहा हूँ कि अब क्या समय है? क्या नौकर ने खाना बनाने में देर तो नहीं कर दी? इसी प्रकार हम 'आशा' या 'प्रतीक्षा' के शब्दों को **बिना वातावरण** में स्थित किए कुछ समझ नहीं सकते।

हमारे मानसिक अनुभव केवल या पूर्ण रूप से व्यक्तिगत (Private) नहीं। यदि हमारे मानसिक अनुभव पूर्ण रूप से व्यक्तिगत होते तो हम एक दूसरे को समझ न पाते। विटकनस्टाईन इस बात को इस तरह स्पष्ट करते हैं। मान लो हर एक व्यक्ति के पास एक डिब्बा है। जिसमें वह ही और **केवल वह ही** देख सकता है। जो कुछ हर एक अपने डिब्बे में देखता है उसे 'चमछम' कहता है। हो सकता है कि हर एक डिब्बे में अलग अलग चीज़ हो और वह समय के साथ बदलती भी जाती हो। यदि एक जन दूसरे को कहे कि मैं 'चमछम' देखता हूँ तो क्या दूसरा उसे कुछ समझ सकेगा कि वह क्या कह रहा है? कदापि नहीं। यदि हमारे मानसिक अनुभव पूर्ण रूप से व्यक्तिगत हों तो हमारे अनुभवों की कोई भाषा नहीं हो सकती जो दूसरे समझ सकते हों। परन्तु हम सब समझते हैं जब कोई कहता है कि 'मुझे दर्द हो रहा है।' 'मैं डर रहा हूँ।' 'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ,' 'मैं इस समस्या पर सोच रहा हूँ।' उपन्यासकार चरित्र चित्रण के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं या वैज्ञानिक विज्ञान की पुस्तकों में जो विचार प्रकट करते हैं वह हम समझते हैं।

कारण यह है कि हमारे मानसिक अनुभव चाहे वे प्रत्यक्षपरक हों या अमूर्तपरक हों, उनका अच्छिन्न व्यवहारिक पक्ष है। व्यवहारिक पक्ष हमारे शरीर और भौतिक वातावरण के साथ सम्बन्धित है। शरीर के बिना व्यवहार का पक्ष नहीं हो सकता। इसलिए शरीर रहित आत्मा के मानसिक जीवन की कल्पना अर्थरहित है। भाषा तर्क इसकी कोई आज्ञा नहीं देता।

सारांश—हमने दिखाया है कि किस प्रकार शरीर रहित चेतना सम्भव नहीं और इसलिये ईश्वर संभव नहीं। (१) जीवन और चेतना के विकास का लक्षण यह है कि ये भौतिक और रसायन पक्षों से अच्छिन्न हैं। (२)निजी अनुभव इस बात की साक्षी हैं कि चेतनामय जीवन मस्तिष्क के बिना संभव नहीं। (३) ईश्वर के शरीर रहित होने की सम्भावना और भी कम है क्योंकि आत्मचेतना पुरुष या व्यक्ति के साथ सम्बन्धित है और पुरुष शरीर के बिना नहीं जाना जा सकता। (४) तार्किक दृष्टि से आत्मा का द्रव्यरूप अरस्तु के त्रुटिपुर्ण तर्क सिद्धान्त पर आधारित है। (५) भाषा विश्लेषण और व्याख्या दर्शन का कहना है कि शरीर रहित आत्मा के अनुभवों के सम्बन्ध में वाक्य अर्थ रहित हैं।

जब तथ्य और तर्क शरीर रहित चेतना के होने की आज्ञा नहीं देते तो शरीर रहित चेतन्य ईश्वर क्यों कर हो सकता है ?

१८

घटनाओं का अच्छा और बुरापन

हम सब जानते हैं कि अस्तित्व और घटनाएं केवल कार्य कारण में बन्धी हुई नहीं; इस कार्य कारण के सम्बन्ध के साथ इनका एक और पक्ष भी है और वह है इनका बुरा और अच्छापन। कुछ घटनाओं के अच्छे फल होते हैं और कुछ घटनाओं के बुरे फल होते हैं। भूचाल का फल बुरा होता है। ऐसी घटना के होने पर कई बार सैकड़ों स्त्री, पुरुष और बच्चे दब जाते हैं और लाखों वा करोड़ों रुपयों की हानि हो जाती है। मनुष्य की सालों की कृतियाँ और सफलताएं मिट्टी में मिल जाती हैं। भूचाल एक विनाशकारी घटना है। इसी प्रकार बाढ़ लोगों को बेघर कर देती है। गरीब लोगों की सीमित पूँजी का नाश करके उन्हें और भी अधिक निर्धन तथा असहाय कर देती है। बिजली से किसी घर या गोदाम में आग लग जाने से जान और माल दोनों की हानि हो जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के कीटाणु मनुष्य की शारीरिक गठन पर हमला करके हजारों को मौत के घाट उतारते हैं। यह सब ऐसी प्राकृतिक घटनाएँ हैं जो मनुष्य जाति के हानि, दुख और मृत्यु का कारण बनती हैं। इन्हें प्राकृतिक बुराईयां कहते हैं।

इन प्राकृतिक बुराइयों के अतिरिक्त सामाजिक बुराईयां भी हैं जो मनुष्य एक दूसरे के सम्बन्ध में करते हैं। मनुष्य एक दूसरे के सम्बन्ध में अन्याय मूलक व्यवहार करते हैं। एक दूसरे के दुख और क्लेश का कारण बनते हैं। एक दूसरे की मृत्यु का कारण बनते हैं। मनुष्य इतिहास में चंगेज खां और हिटलर तथा वर्तमान काल में याहिया खां जैसे राजनैतिक हुए हैं जिन्होंने हजारों घरों को बरबाद किया है। ऐसी बुराईयों को नैतिक बुराईयां कह सकते हैं। प्राकृतिक और नैतिक

बुराईयां विनाशकारी शक्तियों के फल हैं ।

यदि यह मान लिया जाये कि विश्व में प्राकृतिक और नैतिक बुराईयां हैं तो यह तथ्य ईश्वरवाद को रद्द करते हैं। ईश्वर की परिभाषा यह है कि वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, और सर्वश्रेष्ठ सृष्टा है। ऐसे गुणवान सृष्टा के होते हुए बुराईयां क्यों कर हो सकती हैं ? एक प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक एपीक्यूरस का यूँ कहना है—या तो ईश्वर विश्व की बुराई हटाना चाहता है और हटा नहीं सकता, या वह हटा सकता है और हटाना नहीं चाहता, या न उसमें हटाने की शक्ति है न इच्छा है या उसमें दोनों हैं । अगर वह हटाना चाहता है परन्तु उसमें हटाने की शक्ति नहीं तो वह कमजोर है और वह सर्वशक्तिमान नहीं रहता । यदि उसमें बुराई हटाने की शक्ति है परन्तु वह हटाना नहीं चाहता तो वह बुरे स्वभाव का है इसलिए वह सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकता । यदि ईश्वर में बुराई हटाने की न शक्ति है और न इच्छा है तो वह लाचार और बुरा है । यदि उसमें बुराई हटाने की शक्ति और इच्छा दोनों हैं तो उसे विश्व से बुराई हटाने में क्या रोक है ?

यह आपत्ति दो हज़ार वर्ष पहले ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध की गई है, और इसका अब तक ईश्वरवादी कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाए । ईश्वरवादियों ने इस आपत्ति से निकलने के लिए कई रास्ते ढूंढ़े हैं ताकि ईश्वर विश्वास बच सके । हमारे देश में वेदान्त मत वाले इसका इस तरह से हल निकालते हैं । इनके अनुसार मनुष्य का दुख, या जीवधारियों का दुख, दुखियों के आतमाओं को नहीं छूता । आतमा तो सदा ही आनन्द की अवस्था में है । हमारा दुख तो ऊपरी चीज़ है। हमारा दुख उसी प्रकार मिथ्या है जैसे किसी छड़ी का पानी में टेढ़ा दिखना । जैसे छड़ी हमें पानी में टेढ़ी दिखती है परन्तु वह टेढ़ी नहीं होती इसी प्रकार हम समझते हैं कि हमें दुख लगा हुआ है जबकि हमारे आतमा को दुख नहीं लग सकता । हम अपने आपको शरीर के साथ, या मन के साथ, या बुद्धि के साथ एक कर लेते हैं और इनके दुखों को अपना दुख समझते हैं । शरीर, मन, और बुद्धि माया है और उनका दुख माया है । जैसे अज्ञानता से कोई जन पानी में डली हुई छड़ी को टेढ़ी समझ लेता है उसी प्रकार अविद्या के कारण हम दुख को वास्तविक

समझ लेते हैं। ईसाइयों की एक सोसाइटी है जिसे 'क्रिसचियन साइंस सोसाईटी' कहते हैं। इनके अनुसार भी दुख भ्रान्ति है।

दुख को भ्रान्ति या माया कह कर ईश्वर या ब्रह्म के साथ इसकी असंगति (inconsistency) दूर नहीं हो जाती। मान लीजिए छड़ी का पानी में टेढ़ापन माया है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हम उसे टेढ़ा देखते है और जब उसके टेढ़ेपन का कारण भी पता लग जावे तो भी हम उस टेड़ा ही देखते हैं क्योंकि उसे टेढ़ा देखना Law of refraction के अनुसार है। इसी तरह दुख का कारण चाहे अविद्या क्यों न हो इसमें सन्देह नहीं कि मैं दुख अनुभव करता हूँ। कई बार दांत में दर्द होता है और जब डाक्टर कहे कि बताओ किस दांत में दर्द है तो हम प्रायः गल्ती में पड़ जाते हैं और अच्छे दांत को दर्द वाला बताते हैं। यद्यपि मैं अपने दांत के दर्द को गल्त स्थित करता हूं तब भी दर्द दर्द ही है। यदि मैं दांत के दर्द का कारण भी जानलूं तो भी दर्द,दर्द ही रहेगा। दर्द के होने को माया कह कर हम उसका होना नष्ट नहीं कर देते। मान लिया कि दर्द हमारी अविद्या के कारण है, इसका मतलब यह नहीं कि हम उसे अनुभव नहीं करते।

यदि दुख अविद्या के कारण है तो अविद्या का भी कारण है और वह ब्रह्म की माया शक्ति है। अब जब तक ब्रह्म और माया के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता तब तक दुख की कोई व्याख्या नहीं है। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध वेदान्तिक दार्शनिक एफ० एच० ब्रैडले (F.H. Bradley) का कहना है कि असीमित ब्रह्म चेतना ने व्यक्तिगत मायारूप क्यों लिए, इसका हमारे पास कोई वर्णन नहीं। हमारी समस्या के शब्दों में वेदान्तियों के पास दुख के अनुभव का कोई वर्णन नहीं जो ब्रह्म के अस्तित्व को बनाए रखे। दुख ऐसा बारूद है जो ब्रह्म या ईश्वर के अस्तित्व को सहन नहीं कर सकता।

यदि यह हमारी भ्रान्ति है कि हम समझते हैं कि दुनिया में दुख है और यह दुख बुरा है जब कि वह दुख नहीं है और बुरा भी नहीं, परन्तु भ्रान्ति तो भ्रान्ति ही है, इसमें तो कोई भ्रान्ति नहीं। और भ्रान्ति तो बुरी चीज़ है। इसलिए विश्व में बुराई की वास्तविकता से हम भाग कर नहीं निकल सकते और इस प्रकार उसकी सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान

ईश्वर या सत्चिदानन्द ब्रह्म से असंगति नहीं हटा सकते। ईश्वरवादी या ब्रह्मवादी को बुराई को बुराई मानकर ही ईश्वर के विचार के साथ उसकी संगति दिखाना होगी या ईश्वर को त्यागना होगा।

यदि दुख भ्रान्ति है तो सुख क्यों कर भ्रान्ति नहीं ? जिस अविद्या के कारण हम दुख को वास्तविक मान लेते हैं उसी भ्रान्ति के कारण हम सुख को वास्तविक मान लेते हैं। जब हम अविद्या के आधीन हैं तो वास्तविकता के प्रति हमारे निर्णयों की परख किस आधार पर हो सकती है ? किस आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारा सुख ब्रह्म के आनन्द की झलक है परन्तु हमारा दुख भ्रान्ति है ? जब दुख या सुख बुरा या अच्छापन दोनों ही भ्रान्ति हैं तो माया से निकलना क्यों कर अच्छी बात हो सकती है ? यदि अच्छे और बुरे दोनों ही मिथ्या शब्द हैं और चुनाव का आधार अच्छे और बुरे की परख पर है फिर जीवन में चुनाव क्यों कर हो सकते हैं। यदि माया जीवन बुरा है और ब्रह्म जीवन अच्छा है तब ही हम कह सकते हैं कि हमें माया जीवन से निकलना चाहिए वरना यह कहने का कोई अर्थ नहीं है।

२

ईश्वरवादी ईश्वर विश्वास को बुराई के साथ असंगत होने से बचाने के लिए बुराई के प्रति दूसरी विधि अपनाते हैं। उनका कहना है कि जिसे हम बुराई कहते हैं वह भावात्मक नहीं, वह अभावात्मक है। बुराई अपने में कोई गुण नहीं, गुण का अभाव है। अज्ञानता कोई गुण नहीं, ज्ञान का अभाव है। अन्धता देखने की योग्यता का अभाव है। हम में जो कुछ भावात्मक है वह गुणवान है और यह गुण अच्छे हैं। इसलिए विश्व सारा अच्छा है। इसमें कोई बुराई नहीं। हम किसी चीज को बुरा तब समझने लगते हैं जब हम उसमें किसी गुण का अभाव पाते हैं। ज्ञान भावात्मक है। हम सब थोड़ा बहुत ज्ञान रखते हैं। यह सत्य ज्ञान भावात्मक है और शुभकर है। परन्तु हमारी अज्ञानता कोई गुण नहीं। जब हम अपने ज्ञान को पूर्णता की दृष्टि से देखते हैं तो उसमें अभाव पाते हैं और उसे बुरा ठहराते हैं। यदि हम एक स्कूल के विद्यार्थी के ज्ञान की कालेज के प्रोफेसर के ज्ञान से तुलना करें तो हम उसे अज्ञानी कहेंगे। लेकिन

अज्ञानता उस विद्यार्थी का गुण नहीं है इसलिए बुरी नहीं है। हमारे सब गुणों की मात्रा है। इन मात्राओं से ऊपर अभाव है और हम उसे बुरा कहते हैं अर्थात् बुरा अभाव का नाम है। अभाव के लिए हम ईश्वर को उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते।

यह युक्ति वज़नदार नहीं। जिन्हें हम बुराइयाँ कहते हैं वह **केवल** अभाव तक सीमित नहीं। दुख, सुख का अभाव नहीं। भावात्मक है। दुख का अपना गुण है। सुख का अभाव केवल ऐसी अवस्था में हो सकता है कि जिसमें हम न दुख और न सुख अनुभव करें। अर्थात् तटस्थ अवस्था (neutral state) सुख और दुख का अभाव होगी। परन्तु सुख और दुख दोनों ही भावात्मक हैं। अज्ञानता, ज्ञान का अभाव है परन्तु मिथ्या विश्वास ज्ञान का अभाव नहीं। यह मन की उसी प्रकार भावात्मक-अवस्था है जिस प्रकार सत्यज्ञान मन की भावात्मक अवस्था है। यदि कोई जन दूसरों की कोई सहायता न करे तो यह अभावात्मक अवस्था है परन्तु जो जन दूसरों को जानबूझ कर दुखी करता है उसकी अवस्था अभावात्मक नहीं भावात्मक है और निकृष्ट है। जैसे पर-हितेच्छा भावात्मक है उसी प्रकार पर-अहितेच्छा या दुरेषणा भावात्मक है। इसी प्रकार जो जन अपने उपकारियों की सेवा नहीं करता उसमें कृतज्ञता का अभाव है। परन्तु जो जन अपने उपकारियों को तड़पाता है, उसकी नैतिक अवस्था अभावात्मक नहीं, भावात्मक है। बुराइयाँ केवल अच्छेपन का अभाव नहीं, वे अच्छेपन की विरोधी भी हैं। वे अच्छेपन की न्याईं भावात्मक हैं। भावात्मक बुराइयों के लिए ईश्वर उसी प्रकार उत्तरदायी है जिस प्रकार ईश्वर-वादी भावात्मक अच्छाइयों के लिए उसके गुण गाते नहीं थकते। भावात्मक बुराइयों के साथ ईश्वर का विश्वास असंगत है। यह ईश्वर-वादी खूब समझते हैं इसलिए कभी वह बुराई को मिथ्या कहते हैं और कभी अभावमूलक।

बुराइयां अभावात्मक भी हों तो भी उनकी जिम्मेदारी ईश्वर पर है। मान लीजिए एक व्यक्ति सब्ज़ी बनाता है और उसमें नमक डालना भूल जाता है। ठीक है सब्ज़ी में नमक का अभाव है, यह भावात्मक नहीं परन्तु हम उसे उत्तरदायी ठहराते हैं जिसने सब्जी में

नमक नहीं डाला। इसी प्रकार विश्व में अंधे, बहरे, गूंगे और बुद्धिहीन और अनुभवहीन जनों के लिए सृष्टि का रचयिता उसी तरह से उत्तरदायी है जिस प्रकार सब्जी में नमक न डालने वाला सब्जी के फीकेपन के लिए उत्तरदायी है।

३

कई ईश्वरवादी बुराई को माया नहीं कहते और न ही अभावात्मक कहते हैं वह तीसरा रास्ता अपनाते हैं। उनका कहना है कि हमें कई चीजें बुरी लगती हैं और इसका कारण यह है कि हम ऐसी घटनाओं का दूसरी घटनाओं के साथ सम्बन्ध नहीं देख पाते। हम घटनाओं को दूसरी घटनाओं से पृथक देखते हैं। यदि हम घटनाओं को जोड़ कर उन्हें सम्पूर्ण या साकल्य दृष्टि से देखें तो जो हमें पहले बुरा अनुभव होता था वह अब बुरा अनुभव नहीं होगा। ईश्वरवादी चित्र कला से दृष्टान्त लेते हैं। एक चित्र लीजिए। यदि इस का एक फटा हुआ टुकड़ा मिल जावें तो वह भद्दा लगेगा परन्तु यदि हम इस टुकड़े को बाकी चित्र के साथ जोड़ लें और फिर पूरे चित्र को देखें तो हमें यह टुकड़ा भद्दा नहीं लगेगा। साकल्य दृष्टि से देखने से उस टुकड़े का भद्दापन लुप्त हो गया। वह टुकड़ा वास्तव में भद्दा न था, वह हमारी दोषी आँशिक दृष्टि के कारण हमें भद्दा लगता था। यही बात नीति क्षेत्र में बुराइयों के सम्बन्ध में सत्य है। यदि हम प्राकृतिक दुर्घटनाओं और सामाजिक नैतिक बुराइयों को साकल्य दृष्टि से देखें तो वह बुराइयाँ न दिखेंगी। प्राकृतिक दुर्घटनाएं या मनुष्य व्यवहार बुरे इसलिए लगते हैं कि हम उन्हें आंशिक रूप में देखते हैं। यदि हम उन्हें विश्व सपूर्ण दृष्टि से देखें तो हम उन्हें बुरा न पाएं। बुरापन घटनाओं या व्यवहार का स्वभाव नहीं, हमारी आंशिक दृष्टि का दोषी फल हैं।

इस युक्ति में त्रुटि है। जब तक चित्र का टुकड़ा बाकी चित्र के साथ जोड़ा नहीं जाता तब तक हम कह नहीं सकते कि यह चित्र का टुकड़ा भद्दा नहीं है। ऐसा मुमकिन है कि यह चित्र का टुकड़ा भद्दा होने के कारण ही अलग कर दिया गया है। हम जानते हैं कि कलाकार कई बार अपने किसी एक चित्र को रद्द करके नया चित्र बनाते हैं। अब

यदि इस त्याग किए चित्र का भद्दा टुकड़ा हमारे पास हो तो हम नहीं कह सकते कि इसको पूरे चित्र के साथ जोड़ने से यह भद्दा नहीं रहेगा। हो सकता है कलाकार ने इस टुकड़े के भद्देपन के कारण ही अपने चित्र को त्यागा था। यह भद्दा टुकड़ा केवल खुद ही भद्दा न था परन्तु सारे चित्र को भद्दा कर रहा था। इसी कारण उसने इस चित्र को त्याग दिया था और नया चित्र रचा था जिसमें यह भद्दा भाग न हो। फ़ोटोग्राफर कई बार अपने negative का कुछ हिस्सा इसलिए काट देते हैं क्योंकि वह भद्दा है और बाकी फ़ोटो को भी भद्दा करेगा। अब यदि ऐसे negative का काटा हुआ भद्दा टुकड़ा हमें मिल जावे तो हम नहीं कह सकते कि इसको बाकी negative के साथ जोड़ने से वह भद्दा नहीं रहेगा। स्पष्ट है कि तार्किक और तथ्यों की दृष्टि से हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि जब किसी बुरी घटना को दूसरी घटनाओं के साथ जोड़ दें तो उसका बुरापन नहीं रहेगा। साकल्य का स्वभाव यह नहीं कि वह बुरा न हो, या उसके भाग बुरे न हों। साकल्य बुरे भी हो सकते हैं, अच्छे भी हो सकते हैं। यदि घटनाओं के जोड़ से कोई साकल्य बने तो हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि साकल्य **अवश्य** अच्छा होगा और इसके भाग अच्छे होंगे। ऐसे साकल्य भी हो सकते हैं जिनके कई भाग बुरे हों और वह बुरा साकल्य बने। मान लो कोई जन अपने रोग के दुख से तड़प रहा है। यह एक घटना है और यह दुख बुरा दुख है। यदि इसी दुखी जन के दुख में कोई जन उसके प्रति ईर्षा या द्वेष के भाव रखने के कारण इस दुख अवस्था पर मंगल मनाएं तो यह साकल्य अति घृणित होगा। पूर्ण रूप से बुरा होगा। स्पष्ट है कि भागों के जुड़ने पर यदि कोई साकल्य बनता है तो यह आवश्यक नहीं कि भागों की बुराई दूर हो जावे।

यदि ईश्वरवादियों ने यह सिद्ध करना है कि जो घटनाएं हमारी नीति निर्णय बुद्धि बुरी ठहरती है उनका बुरापन हमारे आंशिक दृष्टि के कारण है तो उन्हें इन घटनाओं को विश्वव्यापी साकल्य के साथ जोड़-कर दिखाना होगा, ताकि वे बुरी घटनाएं हमारी और उनकी, अर्थात दोनों की नीति निर्णय बुद्धि को बुरी न लगें। उनकी युक्ति के लिए ऐसा दिखाना आवश्यक है क्योंकि साकल्य का यह अच्छिन्न गुण नहीं कि

वह शुभकर हो। जब तक विश्व का साकल्य नक़शा उनके पास नहीं जिसमें वह यह दिखा सकें कि कैन्सर और दम जैसे अचिकित्सक और दुख उत्पादक रोग, देशों के महायुद्ध, जीवन की कुरूपताएं, घृणाएं और परस्पर अनमेल सुन्दर लगेंगे तब तक इन बुराईयों को बुराई ही मानना पड़ेगा। और इनसे मोक्ष पाने और इस प्रकार ईश्वर के नक्शे को रद्द करने में ही बुद्धिमत्ता और भलाई है। उनकी युक्ति की न तो तर्क से और न जीवन की घटनाओं से पुष्टि है कि सम्पूर्ण विश्व श्रेष्ठ है और उसका कोई भाग स्वंय बुरा नहीं। इसी प्रकार यदि कई बार एक घटना दूसरी घटना के साथ जुड़ कर अपना बुरापन खो सकती है तो अच्छी घटना भी दूसरी घटनाओं के साथ जुड़ कर अपना अच्छापन खो सकती है, और घृणित साकल्य बना सकती है। जैसे कई बार एक भद्दा भाग सारे चित्र में जुड़कर भद्दापन खो बैठता है वैसे यह भी सच है कि जो भाग सुन्दर है वह सारे चित्र में अपनी सुन्दरता को खो बैठता है। जो चीज आंशिक रूप में सुन्दर है वह, मुमकिन है कि दूसरे भागों के साथ मिलकर जो साकल्य बनाए वह सुन्दर न हो। हमारा अपना निजी अनुभव है कि कई बार हमें कोई चीज बैठक (Drawing room) के लिए उपहार में मिलती है। वह आंशिक रूप में तो सुन्दर है परन्तु जब उसे कमरे की और चीजों के साथ जोड़ते हैं तो वह सुन्दर लगने के स्थान पर भद्दी लगती है और सारा कमरा भद्दा लगने लगता है। इसी प्रकार विश्व में जो अच्छी चीजें हैं जिनके लिए ईश्वरवादी, ईश्वर के प्रति अपने को धन्यवादी अनुभव करते हैं, मुमकिन है वह विश्व व्यापी साकल्य के भागों के रूप में सारे साकल्य को निकृष्ट बनाती हों, और इस प्रकार यह सिद्ध करती हों कि जिन्हें हम अच्छा कहते थे वह सकल विश्व को घृणित बनाने का साधन हैं और विश्व का रचयिता को सर्वश्रेष्ठ के स्थान पर सर्वनिकृष्ट सिद्ध करते हैं। ईश्वरवादी यह अनुभव नहीं करते कि उनकी युक्ति उन्हें उलटी पड़ सकती है। उनकी युक्ति के अनुसार हमारी आंशिक नीति निर्णय बुद्धि जिसे बुरा समझती है वह वास्तव में बुरा नहीं तो वह यह भी सिद्ध कर सकती है कि जिसे हमारी आंशिक नीति निर्णय बुद्धि अच्छा कहती है वह वास्तव में बुरा हो। हम मनुष्यों की बुद्धि तो आंशिक ही है जिसके अनुसार हम

किसी चीज़ या व्यवहार को अच्छा या बुरा समझते हैं। यदि जिसे हम दुर्घटना समझते हैं वह वास्तव में शुभकर है तो इसी तर्क पर जिस घटना को हम शुभकर समझते हैं वह दुर्घटना हो। ईश्वरवादी अपनी आंशिक नीति निर्णय बुद्धि से ही ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ समझते है। उनकी युक्ति के तर्क के अनुसार हो सकता है कि ईश्वर पूर्णरूप से निकृष्ट हो।

४

कई ईश्वरवादी बुराई को मिथ्या या अभाव या आंशिक दोषी दृष्टि बता कर तसल्ली नहीं कर लेते। वह मानते हैं कि बुराई को मिथ्या या माया, या अभाव या आंशिक दृष्टि कह कर उसकी बुराई से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह लोग बुराई को वास्तविक मानकर उसकी ईश्वर के साथ संगति करते हैं। इनके अनुसार भूचाल, बाढ़, बिजली, आदि से जो बुराई आती है वह बुराइयां है अर्थात ऐसी प्राकृतिक दोषी घटनाओं के होने पर कितने ही बच्चे, स्त्रियां अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं या लाखों रुपयों की हानि सहन करते हैं। महामारी में हजारों लोग मर जाते हैं और सैकड़ों परिवार के परिवार नष्ट हो जाते हैं। अब यह प्राकृतिक बुराइयां ईश्वर मनुष्य के भले के लिए करता है। यह बुराइयां अंतस्थ (intrinsic) नहीं। यह केवल साधन मूल्य हैं। गांधी जी ने कोयटा में भूचाल के आने पर इस प्रकार ईश्वर के पक्ष में युक्ति दी थी। उनका कहना था कि कोयटा में भूचाल इस लिए ईश्वर ने पैदा किया है ताकि हिन्दुओं को चेतावनी हो जाय कि वह अछूतों पर जुल्म करना छोड़ दें।

इस युक्ति को युक्ति कहना ही गल्ती है। दंड का सम्बन्ध बुरे काम से है। यदि किसी ने बुरा काम किया हो तो उसे दंड देना न्याय मूलक है। अब कोइटा में भूचाल के समय हज़ारों मुसलमान या ईसाई धर्म के लोग मर गए जो छूत-छात को नहीं मानते थे और न ही छूत-छात का कोई बुरा वर्ताव करते थे। कई सैकड़ों मांओं की गोद में बच्चे मर गए थे जिनका अछूतों के साथ बुरा वर्ताव करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। भला ऐसे हज़ारों लोगों और मासूम बच्चों को दंड देना कितनी अन्याय मूलक कठोरता है। ईसाई और मुसलमान

ईश्वरवादी इसका क्या उत्तर दे सकते हैं ? कोई नहीं। हिन्दु ईश्वरवादी ऐसे निर्दोष लोगों और बच्चों की मृत्यु को उनके पुराने जन्म का फल कह सकते हैं। परन्तु उन्हें यह कहां से अनुभूति हुई कि इन लोगों ने पुराने जन्म में बुरे कर्म किए थे और बाकी जगह के लोगों ने पिछले जन्म में कोई बुरे कर्म नहीं किए हैं। यह केवल उनकी मिथ्या कल्पना है। किसी बात को सिद्ध करने के लिए अनुभव निरपेक्ष युक्तियां (apriori argument) नहीं चाहिए, घटनाएँ चाहिएँ। यह स्थापन करने के लिए घटनाओं की साक्षी चाहिए कि इन लोगों की मृत्यु और दुख इनके पूर्व पापों का फल है।

यदि हम युक्ति के लिए यह मान लें कि भूचाल, बाढ़ और बिजली ईश्वर की ओर से लोगों को पापों के लिए दंड है तो ऐसा कठोर और वहशी दंड ईश्वर को कैसे परम दयालु सिद्ध करता हैं ? दंड का सिर पैर होना चाहिए। दंड देने से पहले दंड देने वाले को उसका बुरा व्यवहार या उसका पाप बताया जाता है और दंड की मात्रा बुरे व्यवहार और हालत पर निर्धारित की जाती है। भूचाल, या बाढ़ के अन्धा धुन्ध दंड किस प्रकार का न्याय है।

आज दंडवाद को सभ्य लोग छोड़ रहे हैं। यह वहशी ज़माने का साधन था। इसका आधार अज्ञानता और कठोरता था। ज्यों-ज्यों मनुष्य के व्यवहार की समझ बढ़ रही है त्यों-त्यों पता लग रहा है कि बुरे व्यवहार का कारण समाज का वातावरण भी है। इसलिए बालक या बड़े को पूर्ण रूप से किसी बुरे व्यवहार के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। दूसरा, बालक या बड़े के बुरे व्यवहार में सुधार करने के लिए समझ और सहानुभूति का व्यवहार करना होगा। आज दंड नाम मात्र ही उपयोगी रह गया है। आज कल जेलों में भी दंड की विधि के स्थान पर मनोवैज्ञानिक विधियों द्वारा सुधार किया जा रहा है। जब मनुष्य की सीमित बुद्धि और सहानुभूति के लिए दड एक घृणित साधन है तो भला सर्वज्ञानी, सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान ईश्वर के लिए ऐसे दुष्ट दंड क्यों कर प्रेम पूर्ण हो सकते हैं ? वह ऐसी वहशी विधियों को क्यों कर अपना सकता है। भूचाल, बाढ़, आन्धियां, बिजलियाँ सब ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता का खण्डन करती हैं।

५

कई ईश्वरवादी ऊपरी दलील की कमज़ोरी को समझते हैंऔर इसलिए वह ईश्वर विश्वास की इस प्रकार सुरक्षा नहीं करते। उनके अनुसार ऐसी बराइयां दंड के लिए नहीं हैं। यह उच्च चरित्र निर्माण के साधन हैं। निर्धनता होने पर कई लोग अपने प्रयत्न द्वारा आत्म विश्वास, आत्म निर्णय, आत्म साहस और अन्य योग्यताओं को विकसित करके निर्धनता को दूर कर लेते हैं। अतः इनकी निर्धनता ऐसे गुणों के विकास का साधन बनती है। कई लोग मुसीबतों के आ जाने पर उच्च चरित्र निर्माण कर लेते हैं। अर्थात् बुराइयाँ चरित्र निर्माण के लिए अनुशासन हैं। यह विचार कि बुराइयाँ अनुशासन का आधार हैं, ईश्वर को दंड विधि की अपेक्षा अधिक सभ्यरूप में प्रस्तुत करती हैं। परन्तु यह सत्य नहीं है कि बराइयाँ शासन के लिए आवश्यक साधन है। यदि ईश्वर ने यह बुराइयाँ लोगों के आत्म सुधार के लिए रखी हैंतो यह बुराइयां ऐसे लोगों के जीवन में आनी चाहिए जिनके लिए यह शासन का काम कर सके और जो चरित्र निर्माण के लिए इनका लाभ उठा सकें। परन्तु ऐसी बुराइयाँ अधिकांशतया ऐसेजनों के जीवन में आती हैं जिनके लिए उनका मुकाबला करना उनकी शक्ति और साहस से बाहर है। इनके लिए यह बुराइयां उभारने वाली नहीं, पीस देने वाली हैं। निर्धनों में से कोई-कोई अपने साहस, बुद्धि या प्रयत्न से ऊपर उठता है परन्तु हज़ारों और लाखों लोग निर्धनता के दल-दल में फँसे रहते हैं और उसी में प्राण दे देते हैं। दूसरा, बराइयां जिनके लिए सुधार का काम दे सकती हैं उनके जीवन में कम आती हैं। बलवान, कठोर और चरित्र-हीन लोगों को जीवन में मुसीबतें कम आती हैं। इनके जीवन में दुख और मुसीबतें आएँ तो शायद इनकी आंखें खुल सकती हैं। हम सब का अनुभव है कि पृथ्वी पर न्याय नहीं है। निर्दोष लोग दुख भोगते हैं और पापी लोग सुख भोगते हैं। यह ईश्वरवादी भी मानते हैं और इसी कारण उन्होंने निर्दोष लोगों को अगले जन्म में बैकुण्ठ या पुनर्जन्म द्वारा सुख का आश्वासन दिया है और ईश्वर की सरकार को न्यायपूर्ण प्रमाणित किया है। जब विश्व में दुख-सुख की बाँट न्याय बद्ध नहीं तो बुराइयों को अनुशासन का आधार नहीं मान सकते। पुनः हम पशु जगत पर

दृष्टि डालें तो यह ईश्वर की सरकार के न्यायबद्ध होने का विश्वास और भी खोखला हो जाता है, जंगल में पशुओं, पक्षियों और कीटाणुओं का परस्पर सम्बन्ध एक दूसरे का जीवन हर लेने का है, ये खूँखार और कठोरता और मृत्यु का दृश्य है। पशुओं का ऐसा घृणित अन्याय मूलक कठोर परस्पर व्यवहार किसके लिए अनुशासन है ?

इसमें सन्देह नहीं कि विरले जन निर्धनता, रोग और कठिनाईयों पर विजय पाते हैं परन्तु इन बुराइयों का फल साधारण लोगों के लिए उभारने वाला नहीं, पतित करने वाला है । अच्छा जीवन देने वाला नहीं, जीवन को विपथ और कुरूप करने वाला है । आज सभ्य राज नीतियां इस संग्राम में हैं कि निर्धनता, रोग वा अज्ञानता को दूर किया जावे ताकि इनसे जो असीमित निकृष्ट फल पैदा होते हैं वे ना हों। साधारणतया बुराइयों से बुरे फल पैदा होते हैं और अच्छे हालात से अच्छे फल पैदा होते हैं। इसलिए बुराईयों की महामारी के लिए कोई न्याय अधार नहीं और ईश्वर को इन बुराईयों के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं किया जा सकता । बुराइयों की महामारी इस विश्वास का खण्डन है कि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञानी है ।

कई ईश्वरवादी ठीक अनुभव करते हैं कि विश्व में बराईयों के लिए कोई न्यायपूर्ण आधार नहीं है। इन्हें मिथ्या या अभाव या अपूर्ण दृष्टि या दंड या अनुशासन आधार कह कर उस पर पोचा डालने से सर्वश्रेष्ठ और सर्वशक्तिमान सर्वज्ञानी ईश्वर और बुराइयों में जो असंगतता है उसको दूर नहीं किया जा सकता । ऐसे ईश्वरवादी स्पष्ट रूप से मानते हैं कि **ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं**। और इसलिए उसके न चाहने पर भी बराइयां हैं जिन्हें वह दूर नहीं कर सका। परन्तु सीमित शक्तिवान ईश्वर केवल आदर्श पुरुष का नाम रह जाता है। और विश्व और मनुष्य के वर्णन में वह व्यर्थ प्राक्कल्पना ही रह जाता है।

६

ईश्वरवादियों के पास एक और अंतिम युक्ति, यह है जिसकी परीक्षा करनी रह गई है—उनके अनुसार ईश्वर के लिए सबसे मूल्यवान रचना मनुष्य है। मनुष्य के मोक्ष के लिए उसने उसे अपने जीवन

चुनाव करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता दी है । इस स्वतन्त्रता को अर्थ पूर्ण बनाने के लिए उसने अच्छे और बुरे का भेद पैदा करने के लिए साधन पैदा किए हैं। विश्व में बुराइयाँ मनुष्य के लिए अच्छे और बुरे का परख करने के लिए साधन हैं। यदि बुराइयाँ न होतीं तो मनुष्य को अच्छे का अनुभव ही न होता। और अच्छे वा बुरे के चुनाव के बिना मनुष्य की स्वतन्त्रता सम्भव न होती । यदि मनुष्य सदा स्वस्थ रहता तो उसे अस्वस्थता का ज्ञान ही न होता। उदाहणार्थ यदि मनुष्य सदा न्याय पूर्ण जीवन व्यतीत करता होता तो उसे अन्याय का अनुभव ही न होता। यदि वह सदा सुखी होता तो उसे दुख का अनुभव ही न होता। अच्छे वा बुरे मनुष्य न होते तो अच्छे वा बुरे की परख ही क्योंकर होती। स्वस्थ वा अस्वस्थ, न्याय वा अन्याय, दुख वा सुख, अच्छे वा बुरे की परख के बिना मनुष्य क्योंकर अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग कर सकता था ? यदि सब कुछ अच्छा ही अच्छा होता तो उसके लिए स्वतन्त्र चुनाव का कोई भी विषय न था। इसलिए विश्व में बुराइयाँ मनुष्य के अन्तिम मोक्ष के साधन हैं और मनुष्य की मोक्ष अमूल्य मूल्य हैं।

इस युक्ति के दो भाग हैं। एक भाग यह है कि बुराइयाँ अच्छाइयों की परख के लिए जरूरी हैं। इस युक्ति के अनुसार मनुष्य चेतना का यह स्वभाव है कि वह अच्छी वा श्रेष्ठ चीज़ों के प्रति अनुभवशील नहीं हो सकता और उनकी सराहना नहीं कर सकता जब तक बुरी चीजें न हों। यह मनुष्य स्वभाव की सीमा है । ईश्वरवादी यह न मानेंगे कि ईश्वर स्वभाव की भी यह सीमा है अर्थात ईश्वर अच्छे वा बुरे में परख नहीं कर सकता, जब तक अच्छी वा बुरी चीजें उसके सामने नहीं। अच्छी वा बुरी चीज़ों के पैदा करने से पहले ईश्वर ने काल्पनिक रूप में अच्छे वा बुरे की परख की होगी। इस परख के बिना वह भला कैसे अच्छी वा बुरी चीज़ें पैदा कर सकता था। स्पष्ट है कि चेतना कल्पना द्वारा अच्छे वा बुरे की परख कर सकती है और इसलिए यह आवश्यक नहीं कि बुरी चीज़ें हों तब ही अच्छे वा बुरे की परख हो सकती है। मनुष्य की चेतना की यह सीमा है कि वह बुरे वा अच्छे में परख नहीं कर सकती जब तक दोनों उपस्थित न हों। परन्तु इस हद-

बन्दी या सीमा के लिए उत्तरदायी कौन है। ईश्वर मनुष्य की चेतना को इस ढंग से बनाता कि वह कल्पना द्वारा अच्छे वा बुरे में भेद कर सकता और इसलिए अच्छे को सराह सकता और उसे स्वतन्त्रता से अपना सकता। इसलिए बुराइयों के होने के लिए यह युक्ति सफल नहीं।

दूसरे, इस युक्ति की कमजोरी यह है कि इसके अनुसार हम किसी चीज़ का दूसरे से परख नहीं कर सकते जब तक वह उसके पूर्ण विपरीत न हो। दो चीज़ों में भेद करने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि दोनों एक दूसरे के पूर्ण विपरीत हों। हम दो सफद चीज़ों में भी भेद कर सकते हैं कि यह अधिक सफेद है या यह कम सफेद है। दो सफेद रंगों में भी मात्राओं का भेद हो सकता है। सफेद को सराहने के लिए ज़रूरी नहीं कि कोई पूर्ण काली चीज हो। अच्छेपन की भी मात्राएं होती है। और इन मात्राओं में भेद किया जा सकता है। इनके द्वारा अच्छाई को सराहा जा सकता है। स्वास्थ्य को सराहने के लिए ज़रूरी नहीं कि कैन्सर का ही रोग हो,स्वास्थ्य की भी मात्राएँ हैं और हम इन मात्राओं का भेद कर सकते हैं। ज्ञान की अवस्थाएँ हैं और इन अवस्थाओं की मात्राओं में भेद करके और उन्हें सराह कर अधिक ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न किया जा सकता है। ज्ञान के सराहने के लिए मिथ्या विश्वासों की आवश्यकता नहीं। एक दूसरे को सहायता करने की भी मात्राएं हैं। इन मात्राओं द्वारा उनकी सराहना हो सकती है और हम अधिक परोपकारी जीवन का चुनाव कर सकते हैं अथवा अपना सकते हैं। जब अच्छाई की मात्राएं हैं और मनुष्य चेतना उनकी परख वा सराहना कर सकती है और उनमें अधिक मात्रा की श्रेष्ठता को स्वतन्त्ररूप से चुन सकती है बाढ भूचाल वा बिजली, तथा रोगी की महामारी की प्राकृतिक बुराइयों और समाज में मनुष्य हत्या, चोरी, डाका और अत्याचार और अन्याय की कोई आवश्यकता नहीं इसलिए इनकी उपस्थिति के लिए ईश्वरवादियों के पास कोई उत्तर नहीं।

अब इस युक्ति का दूसरा भाग लेते हैं। ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को स्वतन्त्रता दे रखी है कि वह अच्छे वा बुरे में चुनाव करे। स्वतन्त्रता इतनी मूल्यवान है कि इससे जो बुराइयाँ पैदा होती हैं वह उसकी तुलता में कोई स्थान नहीं रखती। ईश्वर ऐसा कर

सकता था कि मनुष्य की गठन ऐसी बनाता कि मनुष्य सदा अच्छा ही अच्छा चुनाव करता परन्तु ऐसी अवस्था में मनुष्य की स्वतन्त्रता केवल नाम मात्र ही रह जाती। परन्तु स्वतन्त्रता परम् मूल्य है जो त्यागा नहीं जा सकता। बुराइयाँ मनुष्य की स्वतन्त्रता का फल है।

इस युक्ति में स्वतन्त्रता का विचार प्रधान है। इस युक्ति की कमजोरी यह है कि स्वतन्त्रता के आवरण को स्पष्ट नहीं किया गया। स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है? मैं स्वतन्त्र हूँ यदि मैं अपना निर्णय करने में किसी दूसरे के दबाव के नीचे नहीं हूं। यदि कोई व्यक्ति बन्दूक दिखाकर मुझसे किसी कागज़ पर हस्ताक्षर करवा लें तो यह मेरी स्वतन्त्र क्रिया नहीं। जो भी निर्णय मैंने सोच समझ कर किया है और जिसके करने में मुझ पर कोई दबाव नहीं डाला गया वह मेरा स्वतन्त्र निर्णय है। अच्छे मनुष्य के निर्णय भी स्वतन्त्र हो सकते हैं जैसा बुरे आदमी के निर्णय भी स्वतन्त्र हो सकते हैं। मान लोजिए एक अच्छे दुकानदार ने ईमानदारी को अपने जीवन का नियम बना लिया है। यदि वह हर बार ईमानदार क्रिया करने का निर्णय करता है तो वह उतना ही स्वतन्त्र है जितना बुरा आदमी जिसने धन बढ़ौती को अपना नियम बनाया हुआ है और वह बेईमानी करता है। स्वतन्त्रता का अच्छे वा बुरे निर्णय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। हम यह नहीं कह सकते कि ईमानदार दुकानदार स्वतन्त्र नहीं क्योंकि वह सदा ईमानदारी के निर्णय करता है। यदि यह बात सच हो तो ईश्वर सबसे कम स्वतन्त्र होगा क्योंकि ईश्वरवादियों के अनुसार वह कभी भी और किसी हालत में भी बुरा चुनाव नहीं कर सकता। ईश्वर के लिए बुरा करना असंभव है। ईश्वरवादी ईश्वर को पूर्ण स्वतन्त्र भी मानते हैं। यदि ईश्वर सर्वश्रेष्ठरूप के कारण सदा ही शुभकर निर्णय करता है और स्वतन्त्र भी रहता है तो जो मनुष्य सदा ईमानदार व्यवहार करता है तो उसकी स्वतन्त्रता में कमी क्योंकर आ सकती है। स्वतन्त्रता चुनाव के लिए ज़रूरी नहीं कि चुनाव करनेवाला ज़रूर बुरा भी चुने क्योंकि ऐसे विचार पर ईश्वर भी स्वतंन्त्र नहीं रहता।

स्वतन्त्रता का अर्थ है—अपने आप निर्णय का अवसर। अच्छे स्वभाव वाला मनुष्य स्वतन्त्र रूप से अच्छे चुनाव करता है और बुरा

मनुष्य स्वतन्त्र रूप से बुरे चुनाव करता है। दोनों के चुनाव एक बराबर स्वतन्त्र हैं चाहे एक व्यक्ति अच्छी चीज़ का चुनाव करता है और दूसरा बुरी चीज़ का। स्वतन्त्रता परम गुण मान भी लिया जावे तो भी इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि बुरे चुनाव हों। ईश्वर मनुष्य को ऐसा स्वभाव दे सकता था कि वह स्वतन्त्र रूप से सदा ही शुभकर चुनाव करता। यदि ईश्वर मनुष्य को ऐसा स्वभाव देता, और वह ऐस दे सकता था, क्योंकि उसकी सर्वशक्ति में कोई विघ्न नहीं हो सकता, तो दुनिया में कोई बुराईयाँ नहीं होतीं स्वतन्त्रता और बुरे निर्णय ही इकट्ठे नहीं जाते परन्तु स्वतन्त्रता और अच्छे निर्णय भी इकट्ठे जाते हैं। यह कहना कि ईश्वर ने मनुष्य को स्वतन्त्रता दी है इसलिए वह मनुष्य की बुराइयों के लिए उत्तरदायी नहीं, स्वतन्त्रता के अवधारण का मिथ्या सहारा लेना है।

हमने ईश्वरवादियों की भिन्न-भिन्न युक्तियों का अध्ययन किया है जिनके द्वारा वह ईश्वर के विचार को प्रकृत में उपस्थित बुराइयों के साथ संगत करने का प्रयत्न करते हैं। ईश्वर का विचार यदि सच हो तो नेचर में बुराइयों का कोइ वर्णन नहीं। ईश्वरवादियों ने इस कठि-नाई से निकलने के लिए भिन्न-भिन्न रास्ते अपनाए हैं और हमने दिखाया कि इनमें से कोई भो रास्ता उनके लिए खुला नहीं। उनके लिए एक ही रास्ता खुला है और वह यह कि वह ईश्वर के विश्वास को त्याग दें। कई ईश्वरवादी इसी रास्ते को अपनाते हैं जब वह ईश्वर को सर्वशक्तिमान नहीं मानते। ईश्वर को सीमित शक्तिमान मानकर उसे आदर्श पुरुष में बदलना दिल को तसल्ली देने की बात है। यदि ईश्वर सीमित अस्तित्व है तो उसकी जानकारी कि वह है या नहीं उसी तरह होनी चाहिए जिस तरह किसी मनुष्य की होती है। विज्ञान ने दूरबीनों द्वारा आकाश गंगा का अध्ययन किया है। उन्हें ऐसा सीमित ईश्वर कहीं नहीं मिला। न ही सीमित ईश्वर पृथ्वी पर कहीं है। असीमित या सीमित ईश्वर पृथ्वी पर या आकाश में कहीं नहीं। वह लापता है। वह केवल मिथ्या विश्वास है।

१९

देवताओं में विश्वास

यदि आपने पहले तीनों भागों का निष्पक्ष अध्ययन किया है तो आप पूछ सकते हैं कि ईश्वर विश्वास क्योंकर मनुष्य जाति में अब भी जमा हुआ है। प्राचीन काल से ईश्वर विश्वास का खण्डन होता आया है। यह पहले भाग के अध्ययन से स्पष्ट है। ईश्वर के सम्बन्ध में युक्तियां ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में असफल हैं। यह इस पुस्तक के दूसरे भाग से सिद्ध हो गया है। आज के विज्ञान द्वारा जो विश्व ज्ञान हमें प्राप्त है वह ईश्वर विश्वास के लिए कोई जगह नहीं छोड़ता। यह हमारा तीसरा भाग प्रमाणित करता है। पाठकों के मन में यह प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर विश्वास के विरुद्ध ऐतिहासिक, तार्किक और विज्ञान मीमांसक साक्षी के होते हुए भी यह विश्वास क्यों कर चलता आ रहा है ? पाठक इस भ्रान्ति में पड़ सकता है कि शायद इस ईश्वर विश्वास में कोई गुप्त सच्चाई है जो इसे ज़िन्दा रख रहो है। इस भाग का उद्देश्य इस भ्रान्ति को दूर करना है और यह दिखाना है कि ईश्वर विश्वास में कोई **गुप्त सच्चाई नहीं** जिसके कारण यह जीवित है। इस विश्वास की स्थिरता मनुष्य की **मनोवैज्ञानिक कमजोरियाँ** हैं। और जब यह कमज़ोरी न रहेगी तो ईश्वर विश्वास का आखरी सहारा भी खत्म हो जावेगा ओर मनुष्य जाति सच्चाई में वास करेगी।

मनुष्य जाति का देवी-देवताओं तथा ईश्वर में विश्वास का इतिहास है और यह बहुत पुराना इतिहास है। यह इतिहास उतना ही पुराना है जितना मनुष्य समाज का इतिहास। देवी-देवताओं तथा ईश्वर में विश्वास का इतिहास मनुष्य की समझ और भावों के

विकास के साथ बंधा हुआ हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य की समझ बढ़ी है और उसके भावों का उत्थान हुआ है त्यों-त्यों ईश्वरीय अस्तित्वों के प्रति विश्वास में परिवर्तन आया है।

मनुष्य में अपने वातावरण को समझने और उस पर काबू पाने की प्रेरणा और योग्यता उसे अपने पशु पूर्वजों से भिन्न करती है। पशु अपने वातावरण के सम्वन्ध में कोई प्रश्न नहीं पूछता। वह यह नहीं पूछता कि वर्षा क्यों हो रही है, या जंगल में आग कैसे लग गई या उसके वातावरण में उसके लिए खाद्य पदार्थ क्यों नहीं रहे ? मनुष्य में ऐसे प्रश्न पूछने की योग्यता आई है। जब मनुष्य अपने वातावरण में असाधारण घटनाएँ पाता है तो वह उसका कारण जानना चाहता है। यह मनुष्य का स्वभाव है। उदाहरणार्थ जब भूचाल आता है तो मनुष्य पूछता है कि इसका कारण क्या है ? जब वर्षा नहीं होती तो उसका कारण पूछता है। जब रोगी हो जाता है तो उसका कारण जानना चाहता है। मनुष्य अपने आप से पूछता है कि भूचाल, बाढ़ या तूफान क्यों आते हैं ? मनुष्य में प्रश्न पूछने की योग्यता शुरू से आई और सदा ही उसका यह स्वभाव रहेगा।

प्रश्न पूछने की योग्यता एक बात है लेकिन उसका उत्तर देने की योग्यता दूसरी बात है। बालक भाषा सीखने के पश्चात् शीघ्र ही प्रश्न पूछने लग जाता है। परन्तु उसमें उत्तर देने की योग्यता नहीं होती। वह अपनी माता या अपने पिता से पूछता रहता है। यदि माता-पिता उसे स्वयं उत्तर देने के लिए उत्साहित करें तो वह बहुत ग़लत उत्तर देता है। उसकी अविकसित बुद्धि और सीमित अनुभव उसके उत्तर को असन्तोषजनक बनाते हैं। जैसे बालक का बालपन है वैसे मनुष्य जाति का भी बालपन है। मनुष्य जाति में प्रश्न पूछने की योग्यता तो आरम्भिक काल से आई है परन्तु उसके उत्तर देने की योग्यता प्रारम्भ में बहुत निम्न थी इसलिए उसके इस काल के उत्तर असन्तोषजनक रहे और उन्हें हम पुराण विद्या (Mythology) कहते हैं।

पहले पहल मनुष्य ने विश्व की घटनाओं को अपने व्यक्तित्व के नमूने पर सोचा। उसने अपने सम्बन्ध में यह अनुभव किया कि क्रिया

का **कर्ता** होता है। क्रिया कर्ता के बिना नहीं होती। उसकी क्रियाओं का वह कर्ता है। इस **नमूने** पर उसने विश्व की घटनाओं को समझना शुरू किया। उदाहरणार्थ वर्षा की क्रिया उसके कर्ता के कारण समझी और उस कर्ता को इन्द्र देवता कहा। अग्नि की क्रिया का कर्ता होगा। उसने ऐसा सोच कर अग्नि देवता का विचार रचा। इस प्रकार विश्व की मुख्य-मुख्य घटनाओं के करने वाले देवी देवता माने और विश्व को देवी देवताओं से भर दिया।

घटनाओं की इस मानवत्वारोपी व्याख्या की पुष्टि आदि मनुष्य के और अनुभवों से भी हुई। उसके नींद में स्वप्न इस बात के प्रमाण हुए कि उसके शरीर के एक स्थान पर होते हुए भी वह दर-दर घूम सकता है। उसको स्वप्नों में अपने मृतक सम्बन्धी दिखे जो उससे बात-चीत करते थे। ऐसे अनुभव से उसने यह प्रमाण निकाला कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त भी जीवन है और मृत्यु के बाद भी जीवन होता है। अर्थात जीवन पृथ्वी पर ही सीमित नहीं, परन्तु उससे परे भी होता है।

देवी देवता उसकी समझ का **साँचा** बने। वह अपनी सब घट-नाओं का वर्णन इस समझ के साँचे के अनुसार करने लगा। यदि उसकी खेती में उपज न हो, उसके बेटा न हो, उसके घर में कोई रोगी हो जावे, किसी लड़ाई में पराजय हो जावे, तो वह उन और ऐसी सब असफलताओं का कारण देवी देवताओं की अप्रसन्नता मानता था। इसी प्रकार यदि उपज अच्छी हो जावे, या बेटा हो जावे, रोग से मुक्ति हो जावे, लड़ाई में विजय हो जावे, तो इनका कारण वह देवी देवताओं की प्रसन्नता मानता था। वह अपने और विश्व के सम्बन्ध में घटनाओं का वर्णन इन देवी देवताओं द्वारा करता था। **आज भी ईश्वरवादी इस आदि अवस्था की समझ के साँचे** का प्रयोग करते हैं। यदि कोई जन किसी ईश्वरवादी सर्जन को धन्यवाद दे कि उसने उसके बेटे को अपनी सर्जीकल निपुणता से नया जन्म दे दिया है तो ईश्वरवादी सर्जन यह कहेगा कि यह सब ईश्वर की कृपा है, वह क्या कर सकता था। साधारण ईश्वरवादी को भी जब किसी कार्य में सफलता होती है तो वह उसका कारण ईश्वर ही मानता है और उसे धन्यवाद देता

है और धन्यवाद के भाव से अखण्ड पाठ तथा गीता पाठ या यज्ञ करता है।

२

आदि मनुष्य ने घटनाओं को मानवत्वारोपी अवधारण में क्यों सोचा ? उदाहरणार्थ उसने वर्षा का करने वाला देवता क्यों माना ? यह उसकी समझ की अविकसित अवस्था का चिन्ह था परन्तु उसके भाव या आवेग भी उसकी ऐसी समझ के कारण थे। वह अपने हालात पर काबू पाना चाहता था ताकि वह अपने जीवन और सुख की रक्षा कर सके। मनुष्य की सबसे मुख्य प्रेरणा यह है कि वह जीवित रहे और सुख-पूर्ण जीवित रहे। आदि मनुष्य ने अनुभव किया कि उसके वातावरण में अनेक प्रतिकूल घटनाएँ होती हैं जो उसके जीवन और सुख का नाश करने पर तुली रहती हैं। बाढ़, आँधी, तूफान, जंगल की आग, खुँखार पशु, शारीरिक रोग, व दुश्मन कबीले उसके जीवन को जोखिम में डाले रखते हैं। इन सब दुर्घटनाओं पर काबू पाने पर ही उसका जीवन और सुख सुरक्षित हो सकता है। उसे दूसरों पर काबू पाने की एक ही प्रकार की विधि का अनुभव था और वह थी सामाजिक विधि। वह जानता था कि वह अपने साथी मनुष्यों को प्रशंसा द्वारा या भेंट द्वारा जीत सकता है और कई अवस्थाओं में डरा कर भी उनसे अपना स्वार्थ निकाल सकता है। आदि मनुष्य को दूसरों से काम निकालने की यह तीनों विधियाँ मालूम थीं। इसलिए उसने अपने वातावरण की घट-नाओं को मानवत्वारोपी व्याख्या दी। उसे वर्षा पर काबू पाना था। उसने वर्षा का कर्ता इन्द्र देवता सोचा। वर्षा का कारण इन्द्र देवता सोच कर उसने इन्द्र देवता को अपनी तरफ़ जीतने की वही विधियाँ प्रयोग कीं जो वह अपने साथी मनुष्यों को जीतने के लिए प्रयोग में लाता था। उसने इन्द्र देवता की प्रशंसा के सम्बन्ध में स्तुतियाँ रचीं। उसे उपहार प्रदान किए। यज्ञ रचे। वेदों में कहीं-कहीं देवी देवताओं को, धमकी द्वारा अपनी बात पूरी करने की भी प्रार्थनाएँ मिलती हैं। विश्व की घटनाओं को मानव रूप देकर मनुष्य ने उन पर विजयी होने के लिए स्तुति, उपहार, यज्ञ, रचे और इन विधियों का नाम धर्म रखा।

हम उपरोक्त वर्णन को अपने देश के वेदधर्म से स्पष्ट कर सकते हैं। हमारे वेद एक समय में नहीं लिखे गए। इसमें धर्म विचारों के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ मिलती हैं। वेदों में देवताओं, ईश्वर, हो, ब्रह्म का विचार भी मिलता है। ऋग्वेद के देवताओं के बारे में विख्यात अनुवादक और वेद विद्वान आरथर एनथनी मैक्डौनल (Arthur Anthony Macdonell) लिखते हैं—"यह देवता **मूलरूप से प्राकृतिक शक्तियों के मानवरूप** हैं। **ऋग्वेद का धर्म इन देवताओं की पूजा से सम्बन्ध रखता है। इसके मंत्र इन देवताओं की स्तुति में हैं। यह स्तुति सोम रस और हवन के साथ की जाती है।** यह देवता गिनती में लगभग **तेंतीस** हैं जो ज़मीन, हवा ओर आसमान के तोन भागों में ग्यारह-ग्यारह की गिनती में बंटे हुए हैं। इन देवताओं का विशेष समय में **आरम्भ** हुआ है। परन्तु सब देवता एक समय नहीं जन्मे क्योंकि ऋग्वेद के मन्त्रों में दिया हुआ है कि कुछ देवता दूसरे देवताओं की सन्तान हैं। यह देवता पहले मरण-शील माने गए हैं परन्तु सोम रस द्वारा अमर हो गए हैं।

"यह **देवता** मनुष्य का **शारीरिक रूप** रखते हैं। इनके शारीरिक अंग प्राकृतिक शक्तियों के चिन्ह हैं। अतएव सूर्य देवता के हाथ उसकी किरणों के चिन्ह हैं। अग्नि देवता की ज़बान और अवयव अग्नि की लपटों के चिन्ह हैं। इन्द्र देवता को तो **अस्त्र शस्त्र** दिए गए हैं। यह सब देवता अपने **रथों में** घूमते हैं और मूलरूप से इन रथों को खींचने वाले घोड़े होते हैं। परन्तु कुछ अवस्थाओं में और पशु भी यह रथ खींचते हैं। इन **देवताओं का मन पसंद भोजन** वही है **जो मनुष्यों** का मन पसन्द भोजन होता है, अर्थात दूध, मक्खन, गेहूँ और भेड़ बकरी और अन्य पशुओं का गोश्त। यह भोजन देवताओं को पूजा के समय भेंट किया जाता है जिसे या तो अग्नि देवता स्वर्ग में पहुँचता है या खुद यह देवता रथों में सवार होकर पूजा स्थान पर आते हैं जहां वह इसका सेवन करते हैं।[1]

---

१. आरथर एनथती मैकनडौनल (Arthur Anthony Macdonell) वेदिक रीडर फौर स्टूडैन्टस (*Vedic Reader for Students*) भूमिका, पृष्ठ १८, १६ (Introduction pp. xviii, xix)

श्री मैक्डौनल के ऋग्वेद धर्म के सम्बन्ध में विचारों को ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। इन्द्र देवता एक वैदिक देवता है। ऋग्वेद के एक चौथाई मन्त्र इस देवता की स्तुति में हैं। इस देवता के सम्बन्ध में कुछ यादृच्छिक प्रतिदर्शी मन्त्र यह है—'हे कुशिक के पुत्र इन्द्र ! इस निष्पन्न सोम के पीने को शीघ्र यहां आओ (१, ३, ११, ११) सोमपायी इन्द्र का ऐश्वर्य समुद्र के समान विशाल है। वह जिह्वा के जल के समान सदा एक रस रहता है। तुम्हारी सामर्थ्य मुझ उपासक के लिए तुरन्त रक्षा करने वाली और अभीष्टदात्री है। इन्द्र का गुण-गान और स्तुतियाँ उसके सोम-पान के लिए गायी जाती हैं। (१, ३, ८–७, ९, १०)। हे इन्द्र ! अपने अश्वों सहित प्रसन्न होओ। अपने जबड़े और होठों को खोलो। तुम सुन्दर ठोड़ी वाले घोड़ों को लाओ। हम पर प्रसन्न होते हुए हवियाँ स्वीकार करो। इन्द्र का स्तोत्र मरुतों के साथ है। हम इन्द्र के द्वारा अन्न प्राप्त करें। मित्र, वरुण, अदिति, समुद्र, पृथिवी, आकाश हमारे प्रति उदार हों। (१, १५, १०, १०, ११) हे इन्द्र ! हम तुम्हारे महान यश को गाते हैं : और इन नवीन अद्भुत कर्मों की भी प्रशंसा करते हैं। तुम्हारे चमकते हुए वज्र की ध्वजा की और अश्वों की स्तुति करते हैं। हे इन्द्र ! तुम्हारे द्रुतगामी अश्व जलवर्षक मेघ की ध्वनि वाले हैं। समतल भूमि मेघ की गर्जना से प्रसन्न होती और मेघ भी सर्वत्र वर्षा करते हुए सुशोभित होते हैं।'

अब सूर्य देवता के मन्त्र लीजिए—पूज्य एवं अद्भुत रश्मियों से युक्त : सूर्य, अन्धकारयुक्त लोकों के निमित्त शक्ति को धारण करते हैं। वे स्वर्ण साधनों से युक्त रथ पर चढ़ते हैं। सुवर्णपाणि, प्राणवान, श्रेष्ठ, कृपालु, ऐश्वर्यवान् सूर्य ! हमारे सामने आवे। वह नित्य प्रति राक्षसों का दमन करते हुए वहां ठहरें। हे सूर्य ! आकाश में तुम्हारे धूल सहित पुरातन मार्ग सुनिर्मित हैं। उन मार्गों से आकर हमारी रक्षा करो। जो बात हमारे अनुकूल हो, उसका पक्ष लो।' (१, ७, ३५—४, १०, ११)

अग्नि देवता लीजिए। इसके सम्बन्ध में एक मन्त्र यह है—'हे अग्नि ! तुम वायु वेग वाले रोहित नामक अश्वों को रथ में जोड़कर बैल

के समान शब्द करते हो और धूम ध्वज वाले रथ से वृक्ष की ओर उड़ते हो। हम तुम्हारे मित्र होकर पीड़ित न हों ! हे अग्नि जब तुम्हारी लपटें जंगल में फैलती हैं तो पक्षी भी डरते हैं। उस समय तुम्हारा रथ निर्भय विचरता है। तुम्हारे मित्र होकर हम कभी पीड़ित न हों। (१, १४, ६४—१०, ११) जहाँ भौतिक शक्तियों की जैसे बादल, सूर्य्य, रोग, अग्नि आदि को देवता का रूप दिया गया है उसी प्रकार अच्छे और बुरे या नैतिक और अनैतिक व्यवहार को भी मानत्वारूप देकर देवता समझा गया और उसे वरुण का नाम दिया गया। निम्न लिखित मन्त्र यह सिद्ध करते हैं 'हे वरुण ! हम मनुष्यों से जो देवताओं का अपराध हुआ है या अज्ञानवश तुम्हारे कर्म में जो त्रुटि रह गई है, उन पापों के कारण हमारी हिंसा न करना' (७, ५, ८९—५) 'हे वरुण ! मुझ से कौन-सा अपराध हुआ है जिसके कारण तुम अपने मित्र स्तोता का वध करना चाहते हो। मुझे वह बात बताओ ताकि मैं शीघ्र ही तुम्हारे पास आकर नमस्कार करूँ और भेंट धरूं (७, ५, ८९–४) हे धनी और पवित्र वरुण यदि कमज़ोरी के कारण मैंने तुम्हारे नियम को भंग किया है तो भी मुझे सुख दे और धन दे और मेरा कल्याण कर। (७, ५, ८६—३)

यह देवी देवता मूल रूप से घटनाओं के अदृश्य कारण थे। इनके अदृष्टा होने के कारण आदि मनुष्य इनसे अधिक डरने लगा और उनके डर से उन्हें अति शक्तिमान समझने लगा और उनका कहना मानने में अपनी सुरक्षा अनुभव करने लगा। दूसरा यह देवी देवता आदि मनुष्य ने अपने स्वभाव पर रचे। इन्हें मनमाना माना और इस कारण भी देवी देवता उसके अधिक डर योग्य बने।

इसके अतिरिक्त आदि मनुष्यों को भूत प्रेतों का भी अनुभव हुआ। इन भूत प्रेतों में उसके कबीले के शूरवीर नेता थे। यह भूत प्रेत उससे अपनी ज़रूरतों की चीज़ें अर्थात मांस आदि और नशे की वस्तुओं की मांग करते थे। कबीले के लोग कबीले के मृतक शूरवीर की ऐसी मांगों को तृप्त करने लगे। जिस स्थान पर वह ऐसी चीज़ें अर्पित करते थे वह स्थान पवित्र माने जाने लगे और उस पर मंदिर बनने लगे और ऐसे मृतक शूरवीर भी देवता, हां ईश्वर भी, कहलाने लगे। समय

साथ कल्पना द्वारा भी और देवी देवताओं की रचना हुई।

देवताओं में विश्वास भूत प्रेत द्वारा भी हुआ उसकी पुष्टि यहूदी धर्म के देवता यहोवा से हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहोवा किसी समय यहूदियों का युद्ध नेता था और इस लिए श्रद्धा का पात्र था। जब उसकी मृत्यु हो गई तो उसने मूसा को मीडियम बना कर अपने लोगों को अपने पीछे लगाया। इस अनुमान की पुराने धर्म नियम (Old Testament) के आदेशों से पुष्टि मिलती है। "और परमेश्वर ने मूसा से कहा कि मैं **यहोवा** हूँ। मैं सर्व शक्तिमान ईश्वर के नाम से इब्राहीम, इसहाक और याकूब को दर्शन देता था, परन्तु यहोवा के नाम से मैं उन पर प्रगट न हुआ।" (निर्गमन-६-३)। यहोवा ने मूसा को अपनी जाति इस्राएली को मिस्र के फिरौन के ज़ुल्मों से बचाने के लिए उन्हें वहां से निकाल लाने का यह आदेश दिया, "इस्रलिएआ, मैं तुझे फिरौन के पास भेजता हूँ,कि तू **मेरी इस्राएली प्रजा** को मिस्र से निकाल ले आए।' तब मूसा ने परमेश्वर से कहा, मैं कौन हूँ जो फिरौन के पास जाऊँ और इस्राएलियों को मिस्र से निकाल ले आऊँ? उसने कहा निश्चय 'मैं तेरे संग रहूँगा' और इस बात का कि तेरा भेजने वाला मैं हूँ तेरे लिये यह चिन्ह होगा, कि जब तू उन लोगों को मिस्र से निकाल चुके, तब तुम इसी पहाड़ पर परमेश्वर की उपासना करोगे।"

यहोवा **योद्धा** (man of war) था जिसने मृत्यु के बाद अपने आप को देवता या परमेश्वर कहा। यह निम्नलिखित आदेशों से पता लगता है। "तब मूसा और इस्राएलियों ने यहोवा के लिए यह गीत गाया। 'यहोवा **योद्धा** है, उनका नाम हयहोवा है।'" (१५ निर्गमन-३) 'मैं यहोवा का गीत गाऊँगा क्योंकि वह महाप्रतापी ठहरा है; घोड़ों समेत सवारों को उसने समुद्र में डाल दिया हैं।' 'मेरे **पूर्वजों का परमेश्वर** वही है, मैं उसको सराहूँगा'। 'फिरौन के रथों, और सेना को, उसने समुद्र में डाल दिया, और उसके उत्तम से उत्तम रथी लाल समुद्र में डूब गए।' 'हे यहोवा! तेरा **दाहिना हाथ** शक्ति में महाप्रतापी हुआ, हे यहोवा! तेरा दाहिना हाथ शत्रु को चकनाचूर कर देता है। और तू अपने विरोधियों को अपने महा प्रताप से गिरा देता हैं। तू

अपना **कोप भड़काता,** और वे भूसे की नाईं भस्म हो जाते हैं।' इन देवताओं के लिए मन्दिर बनाने और वहां भेंट चढ़ाने का विचार भी यहां पर मिलता है। मूसा ने कहा, 'मेरा ईश्वर वही है, मैं उसी की स्तुति करूँगा। मैं उसके लिए **निवास स्थान** बनाऊँगा।"

(१५—निर्गमन—३, ७, २)

फिर यहोवा ने मूसा से कहा, इस्राएलियों को यह आज्ञा, सुना कि मेरा चढ़ावा अर्थात मुझे सुखदायक सुगंध देने वाला मेरा हव्य रूपी भोजन तुम लोग मेरे लिए उनके नियत समयों पर चढ़ाने के लिए स्मरण रखना। और तू उनसे कह कि जो-जो तुम्हें यहोवा के लिये चढ़ाना होगा, वह ये हैं, अर्थात् नित्य होमबलि के लिये एक-एक वर्ष के दो निर्दोष भेड़ों के बच्चे प्रतिदिन चढ़ाया करें। एक बच्चे को भोर को और दूसरे को गोधूलि के समय चढ़ाना। और भेड़ के बच्चे के पीछे एक चौथाई हीन कूट के निकाले हुए तेल से सने हुए एया के दसवें अंश मैदे का अन्नबलि चढ़ाना। यह नित्य होमबलि है।......मदिरा का यह अर्ध्य यहोवा के लिए **पवित्रस्थान** में देना।

(गिनती, २८...२, ३, ४, ५, ६, ७)

इसी प्रकार यहोवा मनुष्य के अन्य खाद्य पदार्थों की निर्गमन के २२ वें अध्याय में मांग करता है—"तुम अपने खेतों के पहले पहले पके हुए फल और अपनी बनी हुई मदिरा मुझे देने में विलम्ब न करना।"

सारांशतया किसी भी विधि से आदि मनुष्य अपने देवी देवता तथा अदृष्ट शक्तियों वाले इष्ट देवता पर पहुँचा हो, चाहे वह घटनाओं का मानवत्वा रूपी वर्णन हो, चाहे वह भूत प्रेत का अनुभव हो, चाहे स्वप्न का अनुभव हो, चाहे कल्पना की भाग-दौड़ हो, चाहे इन सब कारणों का मिश्रित फल हो, उसने अपने इष्ट-देवताओं को, चाहे वह सूर्य, बाढ़, भूचाल, तूफान, ज्वालामुखी पर्वत, जल-प्रपात जैसा महान अस्तित्व हो, चाहे पत्थर या वृक्ष या साधारण पशु-आदि जैसा तुच्छ अस्तित्व हो, उन्हें अति बलवान समझ और उनके प्रति स्तुति, और यज्ञ किए तथा भेंट चढ़ाए और ऐसे साधनों को

धर्म का सुशोभित नाम दिया। इन इष्ट देवों की पूजा का उद्देश्य अपने जीवन और सुख की रक्षा करना था।

अतएव इस समय में मनुष्य की समझ देवी देवताओं के गिर्द ही घूमती रही।

२०

ईश्वर में विश्वास

समय के साथ मनुष्य ने देवी-देवताओं की दुनियाँ में परिवर्तन किया परन्तु **समझ का सांचा वही रहा**। प्रत्येक देवी देवता की स्तुति बढ़-बढ़ कर होने लगी और इस कारण उनके गुणों में भेद कम होने लगा, इतना कम कि इनमें भेद कठिन हो गया और इन देवताओं की गिनती एक ही में रह गई जिसे ईश्वर का शब्द दिया गया। ईश्वर उस देवता का नाम है जिसे मनुष्य ने सब देवी देवताओं की सब ज़िम्मेदारियाँ और कार्य सौंप दिये। **अब** मनुष्य को वर्षा के लिए अलग एक देवता की स्तुति की ज़रूरत न रही और रोग की चिकित्सा के लिए दूसरे देवता को पास पहुँचने की आवश्यकता न रही, युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए तीसरे देवता को प्रसन्न करने की आवश्यकता न रही ओर खेती में उपज के लिए चौथे देवता के आगे हाथ पसारने की ज़रूरत न रही। उसे अब एक ही देवता (ईश्वर) की स्तुति और यज्ञ करना यथेष्ट था। देवी-देवताओं को एक ईश्वर में संगठित करने का कारण केवल बौद्धिक ही न था, भावुक भी था। सब देवी-देवताओं को एक करने से उसके अलग-अलग ज़रूरतों के लिए अलग-अलग देवी-देवताओं के पास जाने का कष्ट बच गया। अब वह एक ही दफ्तर में जाकर (जिसे मन्दिर कहा) अपने सारे काम संवार सकता था। सब देवी-देवताओं को एक करने से उसकी सुस्ती को मौज हो गई। इससे कहीं अधिक बढ़ कर एक और मूल कारण था। मनुष्य ने देवी-देवताओं की भिन्नता में अपने जीवन और सुख की पूर्ण सुरक्षा अनुभव न की। उसे सूझा कि यदि उसका देवता उसकी बात मान भी ले तो भी वह दूसरे देवताओं की हस्तक्षेप के कारण पूरा करने में असफल हो

सकता है। जब अनेक देवता हैं तो वे एक दूसरे की सफलता में बाधक हो सकते हैं। इसलिए मनुष्य ने अपने एक या दूसरे देवता में अपने जीवन और सुख की सुरक्षा का **पूर्ण आश्वासन** न पाया। यदि उसका देवता सर्वशक्तिमान हो तभी उस पर पूर्ण विश्वास हो सकता है कि वह उसके जीवन और सुख की पूर्ण रक्षा कर सकता है। परन्तु सर्वशक्तिमान देवता तो एक ही हो सकता है। दो देवता सर्वशक्तिमान नहीं हो सकते। इसलिए मनुष्य ने एक सर्वशक्तिमान ईश्वर का विश्वास बांधा और सब देवी-देवताओं के विचार को मिथ्या कहा या उन्हें ईश्वर का रूप मात्र कहा। मनुष्य की समझ को आगे यह अनुभव हुआ कि केवल सर्वशक्ति का गुण रखने वाला ईश्वर उसके जीवन और सुख की रक्षा का पूरा आश्वासन नहीं बन सकता। यदि यह सर्वशक्तिमान ईश्वर अति कठोर हो तो वह उसके जीवन और सुख की प्रार्थना को ठुकरा सकता है। इस लिए मनुष्य ने इस सर्वशक्तिमान ईश्वर को **सर्वदयालु** माना जिसके फलस्वरूप उसकी कोई भी इच्छा अस्वीकार न हो। मनुष्य की समझ ने अपने ईश्वर को एक तीसरा गुण भी दिया। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वदयालु भी है तो भी वह चाहकर भी मनुष्य की सहायता नहीं कर सकता, यदि उसमें **समझ** न हो कि किसी चीज़ को करने की क्या विधि है। उदाहरणार्थ यदि मोटर खड़ी हो जाए तो उसे चलाने के लिए शक्ति के अतिरिक्त उस मोटर की मशीन की समझ भी चाहिए। एक पहलवान मोटर को अपने हाथों पर उठा सकता है परन्तु वह मोटर का दोष ठीक कर नहीं सकता यदि वह मैकेनिक न हो। ईश्वर को मनुष्य के जीवन और सुख की इच्छा पूर्ण करनी हो तो उसे सर्वज्ञानी भी होना होगा। स्पष्ट है कि मनुष्य ने ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्ञानी देवता इसलिए माना क्योंकि ऐसी परिभाषा देने से ही उसके जीवन और सुख की **पूर्ण रक्षा** का **पूर्ण आश्वासन** मिल सकता था।

एक ईश्वर की कल्पना के आने पर भी मनुष्य की समझ का सांचा और स्तर वही रहा है। घटनाओं की व्याख्या मानत्वारूपी ही रही है। घटनाओं की अब भी कर्त्ता के रूप में सोच समझ है। घटनाओं का घटनाओं द्वारा वर्णन नहीं जो विज्ञान की समझ है। उदाहरणार्थ

आदि मनुष्य वर्षा का होना इन्द्र देवता की इच्छा मानता था। ईश्वरवादी आज भी वर्षा को ईश्वर की इच्छा के कारण ही मानते हैं। **हाल ही में** जब बम्बई में वर्षा न हुई और पानी का अकाल पड़ गया तो भिन्न-भिन्न आस्तिक धर्मों के उच्चतम कोटि के लोग अपने-अपने पूजा स्थानों में एकत्र होकर अपने ईश्वर से वर्षा के लिए मन्नतें मांगने लगे और इस प्रकार आदि मनुष्य के व्यवहार में लौट गए। यह दृष्टान्त बताता है कि ईश्वर विश्वास देवी-देवताओं के विश्वास से मूल रूप में भिन्न नहीं है। ईश्वर विश्वास के पीछे वही मानवत्वारोपी समझ का साँचा है और वही जीवन और सुरक्षा के लिए भावना है जो देवी-देवताओं की रचना का कारण बनी।

२

समय के साथ मनुष्य ने ईश्वर की सर्वशक्तिमान, सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्ञानी परिभाषा से तार्किक अनुमान निकाले। ईश्वर का विश्व की घटनाओं पर पूर्ण अधिकार नहीं हो सकता अर्थात ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता यदि वह विश्व का स्रष्टा न हो। ईश्वर को स्रष्टा का रूप देने से मानत्वारोपी समझ नमूने के अनुसार है। साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति इसी प्रकार ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। वह कहता है कि जैसे मेज़ व कुर्सी को बनाने वाला है वैसे विश्व का बनाने वाला भी है और वह ईश्वर है। यह युक्ति आदि मनुष्य की क्रिया और कर्ता की याद है।

जब ईश्वर को विश्व-स्रष्टा का गुण दिया गया तो मनुष्य की समझ ने इस ईश्वर-अवधारणा में और परिवर्तन किए। यदि ईश्वर स्रष्टा है तो वह शरीर युक्त नहीं हो सकता क्योंकि यदि शरीर युक्त है तो वह सीमित होगा और विश्व का भाग होगा और फिर वह विश्व का स्रष्टा नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर को शरीर रहित चेतना माना जाने लगा। देवी-देवता शरीरवान माने जाते थे। वह मनुष्य के ही प्रतिनिधि और प्राकृतिक विश्व के ही भाग थे। इससे बाहर इनका कोई अस्तित्व नहीं था। ईश्वर को शरीर रहित चेतना मान कर उसे विश्व से पृथक स्रष्टा बना कर, उसे विश्व से बाहर स्थित कर दिया गया।

तार्किक दृष्टि से ठीक है कि यदि ईश्वर विश्व का सृष्टा है तो वह शरीरवान नहीं हो सकता परन्तु ईश्वर को शरीर-रहित चेतना मानने में कठिनाइयाँ हैं। हमारा कोई अनुभव नहीं कि जिसमें कोई शरीर के बिना चेतना रखता हो। इसके विपरीत हमारा यह अनुभव है कि चेतना सदा ही शरीर के साथ बंधी हुई है।

दूसरी कठिनाई यह है कि यदि ईश्वर केवल चेतना ही चेतना है तो वह विश्व की सृष्टि कैसे कर सकता है? जो कार्य होता है वह शरीर से होता है। हामारा अनुभव बताता है कि यदि मेज़ या कुर्सी बनाई जाती है तो उसके बनाने के लिए औज़ार चाहिए, और बढ़ई चाहिए जो लकड़ी पर काम कर सके। हम पहले ही ईसा धर्म के महा दार्शनिक ऑगस्टाईन (Augustine) का ईश्वर के स्रष्टा होने की कठिनाइयों को उधृत कर आए हैं। (देखें पृष्ठ १४२-४३)

ईश्वरवादियों के लिए उभयतोपाश यह है कि यदि ईश्वर के स्रष्टा कार्य को बुद्धिमान बनाना हो तो ईश्वर को शरीर देना होगा। परन्तु यदि ईश्वर को शरीर दें तो वह स्रष्टा नहीं रहता। वह स्वयं स्रष्टि का अंश हो जाता है। ईश्वरवादी के लिए इस उलझन से निकलने के लिए एक ही विधि है कि वह ईश्वर के विचार को तर्क और तथ्यों की पहुँच से ऊपर उठा कर केवल धर्म निष्ठा की वस्तु मान कर अपनी बुद्धि को झुठलाए। ईश्वर विश्वास का सिद्धान्त धर्म में बहुत रोचक रहा है क्योंकि ईश्वर विश्वास का एक मूल आधार भावात्मक है। ईश्वर विश्वास इस लिए जमा हुआ है क्योंकि मनुष्य इसमें सब प्रकार की सुरक्षता पाता है।

यद्यपि सुसभ्य धर्म ईश्वर को शुद्ध चेतना मानते हैं तथापि उसे पुरुष रूप में मानते हैं। उसे 'ईश्वरीय' पिता या 'प्रीतम' के रूप में देखते हैं। उसे पोशक भी मानते हैं। वे आदि मनुष्य की न्याईं अपनी स्तुतियां, उपहार, और प्रार्थनाएं लेकर पहुँचते हैं। आज भी सुसभ्य और सुशिक्षित मनुष्य अपने ईश्वर विचार को आदि मनुष्य के विचार से कितना ही सूक्ष्म क्यों न समझे उसका व्यवहार उसे आदि मनुष्य से भिन्न नहीं करता। उसकी आत्मा अभी भी आदि मनुष्य की आत्मा है। वह आदि मनुष्य की न्याईं घटनाओं का घटनाओं से बाहर कर्ता

मानता है और इस कर्ता के आगे आदि मनुष्य की न्याईं अपनी स्तुति और अपने यज्ञ रचता है और अपनी स्वार्थ कामनाओं के लिये प्रार्थनाएं करता है।

३

मनुष्य ईश्वर विश्वास को कई एक सामाजिक या नीति-सम्बन्धी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए भी काम में लाया और इस प्रकार यह विश्वास भावुक रूप से और भी दृढ़ हो गया। मनुष्य समाजीय जीव है। वह समाज में ही रह सकता है, उससे बाहर नहीं। परन्तु समाज में रहने की जो परिस्थितियाँ हैं उन्हें वह पूरा करके खुश नहीं। समाज तभी बना रह सकता है यदि हम एक दूसरे के जीवन का सम्मान करें। दैनिक जीवन में हमारा अनुभव है कि जब कोई जन हमारी इच्छा की पूर्ति में सहयोग नहीं देता या बाधक बनता है या विरोध करता है या किसी प्रकार से हमें निराश करता है तो हमारी इच्छा यह होती है कि उसे समाप्त कर दें। कोई मनुष्य यह नहीं कह सकता कि ऐसे हस्तक्षेप में हमें दूसरे को खतम करने की इच्छा नहीं होती। यदि प्रत्येक व्यक्ति ऐसी हिंसा की इच्छा को पूरा करे तो समाज ही न रहेगा। इसी प्रकार जब हम एक दूसरे की संपत्ति का सम्मान न करें तो समाज नहीं रह सकता। यदि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की वस्तुएं हर क्षण उठाता रहे तो समाज क्योंकर रह सकता है? यदि स्त्रियों का सम्मान न हो तो परिवारिक जीवन क्योंकर संभव हो सकता है? समाज तभी सम्भव है यदि मनुष्य अहिंसक, ईमानदार और पवित्र हो, परन्तु मनुष्य दिल से अहिंसक, ईमानदार और पवित्र नहीं होना चाहता। बंगला देश की हलचल में जो कुछ हुआ वह बताता है कि मनुष्य का असली स्वभाव क्या है। साधारण मनुष्य भी पूछता रहता है कि अच्छे बनने का क्या तात्पर्य है? यह प्रश्न इस बात का दर्पण है कि मनुष्य अच्छा बनने में कोई तृप्ति नहीं अनुभव करता। इसके विपरीत उसमें दु:ख ही दु:ख अनुभव करता है और वह पूछता है कि इन दुखों के सहने में उसे क्या लाभ है। यदि जिसकी लाठी उसकी भैंस होती है तो अहिंसक होकर भैंस खोकर कोई क्योंकर खुश

हो सकता है ? ईमानदारी द्वारा कम पैसा बनता है तो कम पैसे में खुशी क्योंकर हो सकती है ? जो पवित्र व्यवहार दिखाता है वह अपनी वासनाओं के साथ लड़ता है और उन्हें अतृप्त रखता है। ऐसे संघर्ष और अतृप्ति की अवस्था भला दुख के सिवाय और क्या दे सकती है ? मनुष्य यह अनुभव करता है कि समाज में रहने की बहुत महंगी कीमत है और वह यह है कि वह अपनी पाशविकता को रोकथाम कर रखे। ऐसी रोकथाम समाज में, रीति-रिवाज, शिक्षा, कानूनी नियमों और पाशविक बल द्वारा थोपी जाती है। मनुष्य के लिए अपनी वासनाओं की रोक-थाम या त्याग असहनीय दुख है। वह ईश्वर विश्वास द्वारा इस दुख का सिला पाता है। स्वाभाविक ही ईश्वर विश्वास अति प्रिय है और इसलिए जमा हुआ है। प्रत्येक ईश्वरवादी धर्म अपने अनुयायियों को आश्वासन दिलाता है कि उनकी वासनाओं की अतृप्ति थोड़ी देर के लिए ही है। इस दुनियाँ में अच्छे बनने पर अर्थात अहिंसा, ईमानदारी और पवित्रता या ब्रह्मचर्य के गुण धारण करने से अगले जन्म में सुख ही सुख मिलेंगे और सब वासनाओं की पूर्ण तृप्ति होगी।

यह सत्य ईश्वरवादी धर्मों, अर्थात हिन्दू, मुसलमान और ईसाई धर्मों से स्पष्ट किया जा सकता है। कुरान मजीद की निम्नलिखित आयतें बताती हैं कि सामाजिक सदाचार व्यवहार के लिए खुदा या रब इन्सान को क्या सिला या प्रतिफल देगा—"जो लोग मानते हैं कि हमारा 'रब' अल्लाह है और ठीक रास्ते पर चलते हैं उन पर फरिश्ते उतरते हैं (और कहते हैं) कि डरो नहीं और न दुखी हो, बल्कि उस 'जन्नत' की शुभ-सूचना लो जिसका तुम से वादा किया गया था।" (४–३०) "उस 'जन्नत' का हाल यह है जिसका वादा डर रखने वालों से किया गया है। उसमें पानी की नहरें हैं जिसमें सड़ांध नहीं और दूध की नहरें हैं जिसका मजा बदला नहीं, और शराब की नहरें हैं जो पीनेवालों के लिये स्वादिष्ट हैं, और साफ-सुथरे शहद की नहरें हैं और उनके लिये वहां हर प्रकार के फल हैं और क्षमा उनके रब की ओर से है।" (४७–१५)।

"और उन्हें सब्र के बदले में 'जन्नत' और रेशम के कपड़े प्रदान होंगे। वह ऊंची मसनदों पर तकिया लगाये बैठे होंगे। वहां न सूर्य का ताप, न कड़ाके का जाड़ा होगा। उनसे समरदार शाखें और उनकी

छाया करीब होगी । और फलों के गुच्छे झुके हुए लटक रहे होंगे। खादम चान्दी के बर्तन लिए हुए उनके गिर्द घूमेंगे और शीशे के निहायत शफ़ाफ़ गिलास और शीशे भी चान्दी के जो ठीक ठीक अन्दाज़के मुताबिक बनाए गए हैं और वहां उनको ऐसी शराब पिलाई जाएगी जो सोंठ मिलाकर तैयार की गई होगी।" (७६, ११-१७, २०, २२) "जिससे न उनका सिर दुखेगा और न उनकी बुद्धि में विकार आएगा।" (५६-१९) (वहां उनके लिए) "सुन्दर आखों वाली (मृग नैनी) परम रूपवती हूरें हैं। खेमों के भीतर ठहरी रहने वाली जिन्हें इनसे पहले न किसी मनुष्य ने हाथ लगाया है और न किसी 'जिन्न' ने । हरी-हरी मसनदों और अच्छे अच्छे कालीनों पर टेक लगाये हुये हैं।" (५५, ७२, ७४, ७६)

इसी प्रकार बाईबल में भी बहिश्त या स्वर्ग का नक्शा खींचा गया है जिसमें मनुष्य के ठीक व्यवहार के लिए प्रतिफल जताया गया है।

"फिर मैं (जौन) ने पवित्र नगर नये यरुशलेम को स्वर्ग पर से परमेश्वर के पास से उतरते देखा, और वह उस दुल्हन के समान थी, जो अपने पति के लिए सिंगार किए हो। और उसकी दीवारों की जुड़ाई यशब की थी, और नगर ऐसे चोखे सोने का था, जो स्वच्छ कांच के समान हो। और उस नगर की नीवें हर प्रकार के बहुमोल पत्थरों से संवारी हुई थी, पहिली नींव यशब की थी, दूसरी नील मणि की तीसरी लालड़ी की, चौथी मरकत की, पांचवी गोमेदक की, छठवीं माणिक्य की, सातवीं पीतमणि की, आठवीं पेरोज की, नवी पुखराज की, दसवीं लहसनिए की, ग्यारहवीं धूम्रकान्त की, बारहवीं याकूत की। और बारहों फाटक, बारह मोतियों के थे, एक एक फाटक, एक एक मोती का बना था, और नगर की सड़क स्वच्छ कांच के समान चोखे सोने की थी। और मैंने उसमें कोई मन्दिर न देखा क्योंकि सर्व शक्तिमान प्रभु परमेश्वर और मेमना उसका मन्दिर है। और उस नगर में सूर्य और चांद के उजाले का प्रयोजन नहीं, क्योंकि परमेश्वर के तेज से उसमें उजाला हो रहा है, और मेमना उसका दीपक है। और परमेश्वर उनकी आँखों से **सब आंसू पोंछ** डालेगा, और इसके बाद **मृत्यु** न रहेगी, और **न शोक, न विलाप, न पीड़ा** रहेगी, पहिली बातें जाती रहीं। (प्रकाशित वाक्य, २२-२, १९-२३, ४) वे फिर भूखे और प्यासे न होंगे, और न

उनपर धूप न कोई तपन पड़ेगी (प्रकाशित वाक्य ७,१६)। पैगम्बर यशायाह के अनुसार यह मनुष्य को तब्र ही मिलेगा जब वह **सत्य व्यव-हार** दिखाएगा। उनका कहना है कि "दुष्ट अपनी चाल चलन, और अनर्थकारी अपने सोच-विचार छोड़कर यहोवा ही की ओर फिरे, और वह उस पर दया करेगा ! वह हमारे परमेश्वर की ओर फिरे और वह पूरी रीति से उसको क्षमा करेगा। (यशायाह, ५५,७)

४

हिन्दू धर्म में अच्छे व्यवहार के इवज़ में दो प्रकार के सुखों का आश्वासन दिया गया है। इस धर्म के अनुसार मनुष्य इस पृथ्वी पर अनेक जन्म लेता है। यदि वह अच्छे कर्म करता है तो वह मनुष्य का जन्म लेता है और यदि वह बुरे कर्म करता है तो वह पशु जन्म के दुख भोगता है। स्वामी दयानन्द जी वेदों के आधुनिक भाष्यकार माने जाते हैं। अपनी पुस्तक 'ऋग्वेद आदि भाषा भूमिका' में इस प्रकार लिखता है—"जो जीव अनुदित वाणी अर्थात जैसी वेदों में सत्य भाषण करने की आज्ञा दी है वैसी ही यथावत जान के बोलता है और धर्म ही यथावत स्थित रहता है वह मनुष्य योनि में उत्तम शरीर धारण करके **अनेक सुखों को भोगता** है और जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतंग, पशु आदि को धारण करके अनेक दुखों को भोगता है।"[1] स्वभावतः ही वैदिक प्रार्थना इस प्रकार है— 'हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से पूर्व जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझको प्राप्त हों अर्थात सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे।'[2] इन दो उद्धरणों से पता लगता है कि इन्द्रिय सुखों का नाम ही स्वर्ग है। स्वामी जी अपने सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं 'जो संसारिक सुख है वह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है वही विशेष स्वर्ग कहलाता है।"[3] विशेष स्वर्ग मोक्ष अवस्था में सम्भव है। परन्तु इस सुख का गुण कोई विशेष नहीं। अन्तर इतना है कि

१. स्वामी दयानन्द : ऋगवेद आदि भाषा भूमिका (छापा १९३४, पृष्ठ २०४)
२. वही
३. स्वामी दयानन्द : सत्यार्थ प्रकाश, आठवां संस्करण, नवां अध्याय, पृष्ठ २७५

विशेष स्वर्ग में दुख की कोई सम्भावना नहीं और यह सुख चिरकाल तक रहता है। विशेष स्वर्ग का सुख भी इन्द्रिय सुख है। इसका मज़ा यह है कि यह सुख बिना इन्द्रियों के प्राप्त हो जाता है और इस स्वर्ग में मुक्त आत्मा महाकल्प तक रहता है। "इस महाकल्प की संख्या यह है कि तैतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे सात वर्षों का परान्तकाल होता है। इसको गणित की रीति से यथावत समझ लीजिए। इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।"[४]

५

ईश्वर विश्वास मनुष्य के लिए एक और काम भी आता है जिसके कारण मनुष्य उससे चिपका हुआ है। मनुष्य अपनी वासनाओं की तृप्ति के फलों से बचने के लिए अपने ईश्वर के पास जाता है। हममें खाने पीने की वासना है। हम आवश्यकता से अधिक खा जाते है। नशों का सेवन कर लेते हैं। ऐसे व्यवहार से शरीर रोगी हो जाता है। हम अपनी वासनाओं की तृप्ति तो बनाए रखना चाहते हैं परन्तु उनके दुखों से भी बचे रहना चाहते हैं। वास्तविक दुनियां में यह नहीं संभव है। इसलिए हम ऐसी असंभव पूर्ति के लिए काल्पनिक ईश्वर की शरण लेते हैं। एक बार एक ड्राईवर ने अपनी गाड़ी जिसमें मैं भी बैठा हुआ था गलत तरफ से मोड़ ली और ऐसा करते ही उसने तुरन्त कहा "वाहे गुरु ! तेरा ही आसरा।" मैंने उससे पूछा कि गलत मोड़ लेकर खतरा मोल ले रहे हो तो वाहे गुरु को क्यों याद कर रहे हो। उसने उत्तर दिया कि यदि मैं ठीक मोड़ लेता तो मुझे वाहे गुरु की सहायता की क्या आवश्यकता थी। हम साधारण मनुष्य इस ड्राईवर की मानसिक अवस्था में हैं। हम धन के लोभ से नहीं निकलना चाहते। परन्तु इस लोभ के अनैतिक व्यवहार के फलों तथा निराशाओं और दुखों से बचना चाहते हैं। हम मोह से नहीं निकलना चाहते परन्तु मोह के दुखों से बचना

---

४. वही, पृष्ठ २७४

चाहते हैं। मनुष्य की वासनाएं और मोह उसे दुखी करते हैं क्योंकि वह ऐसी तृप्ति मांगती हैं जो प्रकृति के नियमों के अनुसार नहीं। इसलिए मनुष्य दुख और निराशा में रहता है। इन निराशाओं और दुखों को सहन करने व उनसे मुक्त होने के लिए ईश्वर का सहारा ढूंढता है। ईश्वर विश्वास में मनुष्य की बुद्धि की तृप्ति नहीं क्योंकि ईश्वर विश्वास द्वारा विश्व को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। ईश्वर विश्वास हमारी निराशाओं और हमारे दुखों का सहारा है। स्वभावतः ही यह विश्वास मनुष्य के लिए इतना प्रेम योग्य है।

कुछ विरले मनुष्य ऐसे भी हैं जो वासनाओं और मोह के दुखमय फलों को देखते हैं और वह इतनी जागृति रखते हैं कि यह बेहूदा बात है कि वासनाएं भी रखें और उनके फलों से भी बचे रहें। यह उनकी पवित्र प्रकृति की समझ है। वह इस लिए अपनी वासनाओं और मोह से अपने आप को ऊपर करना चाहते हैं और पवित्र जीवन विकसित करना चाहते हैं। परन्तु आदि मनुष्य और दुनिया-परस्त ईश्वर विश्वासी की न्याई अपनी समस्या का हल ईश्वर में ढूंढते हैं। वे अपनी वासनाओं और मोह के कारणों का और उनसे मोक्ष का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं करते। वे आदि मनुष्य के समझने के साँचे पर अपनी वासनाओं से मोक्ष के लिए ईश्वर का मिथ्या द्वार खटखटाते हैं।

ये विरले आत्मा जो ईश्वर द्वारा पवित्रता ढूंढते हैं वे ईश्वर की अवधारणा में नये गुण लगाते हैं। वे उसे पूर्ण पवित्र और प्रेम की मूर्ति कहते हैं। ईश्वर की ऐसी मनोहर, पूर्ण पवित्र छवि पर मोहित होते हैं और खुद पवित्र जीवन को प्राप्त होते हैं। इनकी दशा वैसी ही है जैसे नार्सिस नामी एक लड़के की थी। यह किशोर बालक बहुत सुन्दर था। एक बार वह तालाब के पास जा बैठा। उसने तालाब के पानी में अपनी सुन्दर शक्ल का प्रतिबिंब देखा। वह अपनी सुन्दरता से अज्ञात था। उन दिनों कोई दर्पण न थे और यह उसका पहला अनुभव था। उसने पानी के प्रतिबिंब में जो सुन्दरता देखी उसे अपनी सुन्दरता का प्रतिबिंब नहीं समझा परन्तु उसे वास्तव में अपने से पृथक अस्तित्व की सुन्दरता समझा। कहते हैं कि वह इस प्रतिबिंब की सुन्दरता पर इतना मोहित हो गया कि वह वहीं बैठा रहा और वहीं उसने प्राण दे दिये।

इसी प्रकार पवित्रता के भाव रखने वाले जन जिन जिन सुन्दर भावों को अपने में विकसित करते हैं उनसे वे अपने ईश्वर का शृंगार करते हैं और उस पर मोहित हो जाते हैं। जैसे नार्सिस अपनी सुन्दरता से अज्ञात होकर सुन्दरता को प्रतिबिंब में मानता था, उसी प्रकार पवित्र या विराग-मय जीवन रखने वाले ईश्वरवादी अपने जीवन की सुन्दरता को अपने ईश्वर पर निर्देशित करते हैं। एक महान जर्मन दार्शनिक फियूरबैक (Feuerbach) का कहना है कि मनुष्य अपने सात्विक जीवन के आदर्श को मूर्ति रूप देकर उसे ईश्वर कहता है। ईश्वर आदर्श मनुष्य का नाम है। हम पहले ही अध्याय १२ (पृ० १२५-२६) में देव धर्म के प्रवर्तक, देवात्मा, का जीवन अनुभव का दृष्टान्त दे आए हैं। उन्होंने अपने सत्यं, शिवं, और सुन्दरम् के अनुरागों के विकास को ईश्वर से निर्देशित किया और नार्सिस की न्याई अपने जीवन के प्रतिबिंब को ईश्वर कहा और उस पर मोहित होकर सारी सारी रात नृत्य किया। समय के साथ उन्हें यह ज्ञान हुआ कि जिस सत्य और शुभ समस्त जीवन पर वह मोहित होते थे वह उनका अपना सत्य और शुभपूर्ण जीवन था। हम उनके जीवन में से फिर कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं ताकि यह सच्चाई और अंकित हो जाए। उन्होंने ३१ वर्ष की आयु में यह प्रेरणा अनुभव की कि वे नौकरी छोड़ कर लोगों को मिथ्या संस्कारों और पापी जीवन से मोक्ष देने के परोपकारमय कार्य में लग जाएं। इस प्रेरणा के विषय में लिखते हैं "मैं इस समय तक भली भांति यह निर्णय नहीं कर सका था कि मुझ में जिस आत्म-त्याग का व्रत ग्रहण करने की प्रेरणा होती है, वह ज़रूर मेरे उन्हीं ईश्वर की ओर से है, कि जिनका मैं पूर्ण भक्त होकर उनके आदेश पालन के लिए बाध्य हूं।......मेरे पास एक बंगाली की पुस्तक थी, जिसमें कुछ ईश्वरोपासकों की परस्पर सत्संग विषयक उक्तियां थीं। मेरे भीतर उसके पढ़ने का विचार उठा। इस पाठ से इस प्रश्न का कि क्यों कर मालूम हो कि यह प्रेरणा ईश्वर की ओर से ही है, यह उत्तर मिला, कि ईश्वर की ओर से ऐसी जो प्रेरणा होती है, वह एक व दो बार होकर बन्द नहीं हो जाती किन्तु बार बार होती है।

"ईश्वर विषयक विचार निश्चय ही मिथ्या है और इसलिए

उसकी ओर से किसी प्रेरणा का होना भी अवश्य मिथ्या है, परन्तु यह सत्य है कि किसी मनुष्य व पशु के हृदय में जो भाव वर्तमान हो, उसकी प्रेरणा उसके भीतर अवश्य होती है। और यदि वह भाव प्रबल हो चुका हो, और अन्य किसी भाव से दबा हुआ न हो, तो वह एक दो बार नहीं, किन्तु बार २ अपनी प्रेरणा करता है।"[१]

यदि ईश्वर को सात्विक जीवनधारी या सत्य और शुभ सम्पन्न जीवन के गुण भी दे दिये जायें तो भी यह विश्वास मिथ्या ही है। यह मिथ्या विश्वास घटनाओं के मानवत्वारोपी वर्णन का फल है। जैसे मनुष्य ने और घटनाओं का वर्णन ईश्वर को कर्ता मानकर किया है उसी प्रकार पवित्र जीवनधारियों ने अपनी पवित्र प्रेरणाओं की आवाज को ईश्वर की आवाज समझा है। हम अध्याय १५ में देख आए हैं कि किस प्रकार विश्व की घटनाओं का वर्णन अन्य घटनाओं से होता है, ईश्वर द्वारा नहीं, चाहे वे घटनायें नैतिक और आध्यात्मिक क्यों न हों।

---

१. श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री : आत्मकथा, अध्याय २, पृ० १०-११

२१

ब्रह्म में विश्वास

जैसे देवी-देवताओं की सूक्ष्मता द्वारा ईश्वर का विचार बना उसी प्रकार ईश्वर के विचार की सूक्ष्मता से ब्रह्म का विचार बना। हमने देखा कि किस प्रकार मनुष्य की समझ ने देवी देवताओं द्वारा अपने जीवन और सुख में पूर्ण आश्वासन न पाया और इसलिए वह एक ईश्वर देवता के विचार पर पहुंचे। समय के साथ मनुष्य समझ ने ईश्वर अवधारणा में त्रुटियाँ देखीं। यदि ईश्वर असीमित शक्ति है तो उससे बाहर कोई शक्ति नहीं, जिसका अर्थ यह हुआ कि उससे बाहर कोई अस्तित्व नहीं। शक्ति के बिना कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। ईश्वर और विश्व दो पृथक पृथक अस्तित्व नहीं हो सकते। वे दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार यदि ईश्वर असीमित चेतना है, तो चेतना के बिना कोई अस्तित्व नहीं। विश्व असीमित चेतना है। यदि ईश्वर अनादि है, तो कोई भी अस्तित्व समय में नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर से बाहर कोई अस्तित्व नहीं। ऐसे अद्वैत, असीमित विश्व चेतना को ब्रह्म कहा जाता है।

हमारे दैनिक अनुभव की दुनियां ऐसे अस्तित्वों की है जो शरीर रखते हैं और समय के आधीन हैं। यह ब्रह्म विचार इन्द्रिय अनुभव की दुनियां के साथ असंगत है। इसलिए दोनों सत्य नहीं हो सकते। महान हिन्दू दार्शनिक शंकराचार्य के अनुसार "ब्रह्म सत्यं जगन्न मिथ्या" का अर्थ यह है कि वास्तव में विश्व अद्वितीय असीमित चेतना है और हमारी अनुभवी दुनियां इस पर उसी प्रकार अध्यास है जिस प्रकार साँप की भ्रान्ति रस्सी पर अध्यास है।

ब्रैडले जैसे ब्रह्मवादी स्वयं मानते हैं कि यह समझ से बाहर है कि

किस विधि से असीमित चेतना अनेक सीमित जीवात्माओं में बंट गई। ऐसे विभाजन का कारण क्या हो सकता है ?[१] पूर्ण ब्रह्म में किसी अभाव की पूर्ति की संभावना नहीं। पूर्ति समय में होती है। ब्रह्म समय से बाहर है। समय से बाहर अस्तित्व में किसी पूर्ति का विचार असंगत है। इसी प्रकार हिन्दु ब्रह्मवाद में ब्रह्म और माया का सम्बन्ध असिद्ध है। क्या माया का ब्रह्म के साथ आन्तरिक सम्बन्ध है ? यदि यह सम्बन्ध आन्तरिक है तो ब्रह्म निर्गुणी नहीं हो सकता। माया की दुनिया सगुणी है। यदि ब्रह्म और माया का सम्बन्ध बाह्यक है तो फिर ब्रह्म अद्वितीय नहीं। ब्रह्म और माया दो पृथक अस्तित्व हैं। पुनः ब्रह्म का विचार विश्व की घटनाओं के वर्णन की कोई योग्यता नहीं रखता। तर्क और तथ्य दोनों के लिए ब्रह्म का विचार त्याज्य है।

परन्तु हमारी मनोकामनाएं इसे त्यागने नहीं देतीं। मनुष्य की क्या मनोकामनाएं हैं जो ब्रह्मवाद द्वारा तृप्त होती हैं ? जीवधारियों की एक मूल प्रवृति यह है कि वे विश्व पर छा जाना चाहते हैं। प्रत्येक जाति सारे विश्व को अपनी जाति से भर देना चाहती है। इस-लिए भिन्न भिन्न पशु जातियों में संघर्ष रहा है और कई जातियाँ नष्ट भी हो गई हैं। मनुष्य सब पशु जातियों से चालाक निकला है। उसने कुछ पालतू पशुओं को छोड़कर बाकी सब पशु जातियों को लगभग ख़त्म कर दिया है। आज जंगल पशुओं से ख़ाली हो गए हैं। आज मनुष्य स्वयं इस मूल प्रेरणा के फलों का सामना कर रहा है। वह इतनी शीघ्रता से अपनी जाति की संख्या बढ़ा रहा है कि डर है कि शीघ्र ही मनुष्य संख्या इतनी हो जाएगी कि उसको पैर रखने का स्थान नहीं रहेगा। अतः इस भय के परिणामस्वरूप परिवार नियोजन का प्रचार हो रहा है। मनुष्य में विश्व पर छा जाने की इच्छा केवल जीव स्तर पर ही नहीं, प्रत्येक स्तर पर है। एक एक राज्य सारी पृथ्वी पर राजनैतिक साम्राज्य बनाना चाहता है और भूतकाल में बड़े साम्राज्य बने हैं। आज बड़े राज्य दूसरे राज्यों पर आर्थिक रूप से अधिकार जमाने

---

१. ब्रैडले, एफ० एच०—'एपियरैन्स एंड रिएलिटि', पृ० ४६७
Bradley, F.H. : *Appearance And Reality*, p. 467

के संग्राम में हैं। यह प्रभुत्व की इच्छा जीव, राजनैतिक और आर्थिक स्तरों पर ही नहीं, मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी है। मेरे साथी मेरी अधिकार इच्छा को पूरा नहीं होने देते। जब तक एक से अधिक व्यक्ति हैं तब तक भिन्नता और स्वतन्त्रता दूर नहीं हो सकती। स्वभावतः हम एक दूसरे की इच्छा का विरोध करते हैं और निराशा का दुख भोगते हैं। इस दुख से बचने के लिए बुद्धि ऐसा तर्क करती है जिससे भिन्नता और स्वतन्त्रता मिथ्या प्रमाणित हों। मनुष्य यह कल्पना करता है कि वह और ईश्वर एक हैं—'तत्वास्मि', सोऽहं अस्मि।' 'अहम् ब्रह्मास्मि', अर्थात मैं ब्रह्म हूँ। ब्रह्म असीमित चेतना है, इसलिए मैं असीमित चेतना हूँ। मैं असीमित चेतना के रूप में अद्वैत हूँ। दार्शनिक रसल के अनुसार 'अहम् ब्रह्मास्मि' से बढ़कर अहम् का पागलपन क्या हो सकता है।

ब्रह्मवाद से एक और इच्छा भी पूरी होती है। कई असाधारण मनुष्य सीमित जीवन (finite life) के दोषों के प्रति बहुत भावशील होते हैं। उनके लिए अपने में और दूसरों में सीमितता (finitude) के अनिवार्य दोष दुखप्रद होते हैं। इन दोषों की कुरूपता उनके लिए असहनीय होती है। ऐसे असहनीय दुख निवारण के लिए ब्रह्म का विचार अति आकर्षणीय और अति तृप्ति का साधन बनता है। ब्रह्म में लय हो जाने की इच्छा अति सूक्ष्म, सौन्दर्य भाव की इच्छा है परन्तु इच्छा अवश्य है। यह इच्छा निर्गुणी ब्रह्म के विचार को ही स्थिर रखती है।

२२

ईश्वर-विश्वास का भविष्य

हमने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया कि ईश्वर के विश्वास का जन्म क्योंकर हुआ और उसमें मनुष्य जाति क्यों कर जमी हुई है। हमने देखा कि देवी देवताओं या ईश्वर या ब्रह्म में विश्वास के दो आधार हैं—बौद्धिक और भावात्मक। इन में भावात्मक आधार ज्यादा प्रबल है और इस लिए ईश्वर विश्वास प्रबल है। विज्ञान के साथ इस विश्वास का बौद्धिक पक्ष कम होना और नष्ट हो जाना ज़रूरी है। विज्ञान ने विश्व की घटनाओं की व्याख्या में पुरानी मानवत्वारोपी दृष्टि को त्याग दिया है जिसने देवी देवताओं, ईश्वर तथा ब्रह्म के विश्वासों को था। वह घटनाओं की कर्ता की दृष्टि से व्याख्या नहीं करता। वह घटनाओं की अन्य घटनाओं में व्याख्या करता है। आज हम वर्षा का कारण इन्द्र देवता नहीं मानते, ईश्वर नहीं मानते, वरन् अन्य दूसरी घटनाएं मानते हैं। यदि खेती में उपज न हो तो हम खेती-बाड़ी विभाग की वैज्ञानिक खोजों में सहायता ढूंढते हैं, और वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि किन कारणों से हमारी उपज असफल हुई है और कैसे सफल हो सकती है। इसी प्रकार यदि महामारी हो जावे तो राज्य चिकित्सा विभाग को उसके कारण ढूंढने के लिए कहता है। यदि किसी राज्य में असामाजिक व्यवहार बढ़ जावे तो राज्य, मनोवैज्ञानिक और समाज वैज्ञानिक को ऐसी समस्या के हल ढूंढने के लिए कहता है। परन्तु वैज्ञानिक विधि को अपनाए अभी ३०० वर्ष ही हुए हैं जहाँ आदि मनुष्य की मिथ्या विधि लाखों वर्षों से मनुष्य की समझ पर अधिकार रखती रही है।

विज्ञान ने मनुष्य की कई समस्याएं तो सिद्ध कर दी हैं परन्तु अभी बहुत सी ऐसी समस्याएं हैं जो उसने अभी छुई तक नहीं। इसलिए

आज भी जब मनुष्य को ऐसी समस्या का सामना करना पड़ता है जिसका हल अभी विज्ञान के पास नहीं तो मनुष्य फिर आदि मनुष्य के साँचे में लौट जाता है और ईश्वर का सहारा ढूंढता है। ज्यों ज्यों मनुष्य की वैज्ञानिक समझ में शिक्षा होगी और ज्यों-ज्यों विज्ञान मनुष्य के असहायपन को कम करेगा त्यों-त्यों ईश्वर में विश्वास उखड़ता जावेगा। इस बात की ईश्वरवादी भी पुष्टि करते हैं जब वे यह कहते हैं कि विज्ञान के साथ ईश्वर विश्वास कम हो गया है। कारण यह है कि विज्ञान ईश्वर विश्वास के बौद्धिक और भावात्मक दोनों आधारों को काट रहा है। एक ओर वैज्ञानिक विधि विश्व की घटनाओं के वर्णन में कर्ता के विचार को उड़ा रही है और दूसरी ओर वह मनुष्य के जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के साधनों की खोज में बहुत सफल प्रमाणित हो रही है। परन्तु अभी दिल्ली बहुत दूर है।

मनुष्य समाज ने विज्ञान की शिक्षा ही नहीं पानी, **वैज्ञानिक मनोवृत्ति** या समझ (Scientifie mentality) भी विकसित करनी है। बहुत लोग विज्ञान पढ़ लेते हैं परन्तु धर्म के सम्बन्ध में वे मिथ्याचारी रहते हैं। चिकित्सा विज्ञान पढ़ कर भी बच्चे के पैदा होने पर यह मिथ्याचारी लोग अपने ईश्वर का धन्यवाद करते हैं और अखण्ड पाठ या गीता पाठ रखवाते हैं। खगोल द्वारा विज्ञान पढ़ कर भी मिथ्याचारी ज्योतिष में विश्वास रखते हैं। विश्व में नियम की प्रधानता जानकर भी मिथ्याचारी चमत्कार में विश्वास रखते हैं। इसलिए विज्ञान में शिक्षा यथेष्ट नहीं। इससे बढ़ कर **वैज्ञानिक मनोवृत्ति या समझ** की जरूरत है। मनोवैज्ञानिक वृत्ति या समझ क्या है हम इसका वर्णन हम १३, १५, १६ अध्यायों में कर आए हैं। वैज्ञानिक वृत्ति या समझ यह है कि—

१—वैज्ञानिक विधि ही विश्व के सम्बन्ध में सत्य ज्ञान की विधि है। दार्शनिक रस्सल का कहना है कि जिसे विज्ञान नहीं जान सकता वह नहीं जाना जा सकता।

२—विश्व में घटनाओं का वर्णन अन्य घटनाओं में है और किसी तत्व मीमांसक अस्तित्व ईश्वर या ब्रह्म में नहीं, चाहे वह घटनायें नैतिक और आध्यात्मिक क्यों न हों।

३—घटनाओं के नियम जानने से ही उन पर काबू पाया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

४—मनुष्य की सब समस्याओं की सिद्धि वैज्ञानिक विधि और वैज्ञानिक ज्ञान द्वारा ही संभव है इसके बिना नहीं।

५—मनुष्य के आरम्भ और आदर्श अवस्था के विकास की परिस्थितियाँ इस प्राकृतिक विश्व में ही हैं, इससे बाहर नहीं।

६—नियमों की प्रधानता केवल भौतिक और जीव जगत में नहीं, परन्तु मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में भी है।

७—वासनायुक्त अहम् और मोही जीवन के दुखदायी फलों से मोक्ष प्राप्ति की वैज्ञानिक विधियाँ हैं। और उच्च तथा शान्तिमय जीवन के लाभ करने की भी वैज्ञानिक विधियाँ हैं। वह धर्म ही सत्य धर्म है जो ऐसी वैज्ञानिक विधियाँ बताता है।

८—मनुष्य की इच्छाएं विश्व का स्वभाव निर्णय नहीं करतीं परन्तु विश्व का स्वभाव इन इच्छाओं की मिथ्यापन या सत्यता का निर्णय करता है। यह मनुष्य की मिथ्या इच्छा है कि उसे ऐसा जीवन प्राप्त हो जो सब दुखों व निराशाओं से सदा ऊपर हो। यह तब ही संभव है यदि मनुष्य परिवर्तन से ऊपर हो और विश्व की सब घटनाओं पर उसका वश हो। इसी प्रकार शरीर रहित जीवन की इच्छा असंभव इच्छा है। असीमित चेतना में लय हो जाने की इच्छा मिथ्या है। इन मिथ्या इच्छाओं से ही आत्मा और परमात्मा तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में मिथ्या विश्वास बने हैं, जैसे मनुष्यात्मा निर्लेप है, दुख से मुक्त है, शरीर रहित है, या विश्व का एक असीमित आत्मा है, पृथक-पृथक आत्माओं का विचार और अनुभव अविद्या है। ईश्वर और ब्रह्म सम्बन्धी दर्शन और धर्म का आकर्षण और प्रियपन्न इन मिथ्या इच्छाओं के कारण है। जब मनुष्य इन मिथ्या इच्छाओं के मिथ्यापन का दृष्टा होगा और वैज्ञानिक विधि को अपनी बुद्धि का पथदर्शक बनाएगा तो वह ईश्वर और ब्रह्म के मिथ्या विश्वासों को त्याग देगा और मिथ्या समझ से सच्ची मुक्ति प्राप्त करेगा।

●●

शब्दावली
अनुक्रमणिका

शब्दावली

अविच्छिन्न	Inseparable.
अजीवित अस्तित्व	Inanimate existence.
अतिमानव	Superman.
अधिकार युक्त	Authoritative.
अध्यास	Superimposition.
अनिवार्य अस्तित्व	Necessary existence.
अनिवार्य तार्किक सम्बन्ध	Necessary relation.
अनुभव	Experience.
अनुभवों का केन्द्र	Centre of experiencing.
अनुभव निरपेक्ष समझ	A priori reasoning.
अनुभव शील	Sensitive.
अनुभवी विश्व	Empirical world.
अनुमान	Inference.
अन्तर्वस्तु	Content.
अन्तर्विवेक	Practical reason.
अपुरुष चेतना	Impersonal consciousness.
अभिकथन	Assertion.
अभिकल्प युक्ति	Argument from design.
अभ्युपगम	Postulate.
अमूल्य मूल्य	Ultimate Value.
अरचित	Un-created.
अर्थ वर्णन	Interpretation or explanation.
अवधारणा	Concept.
असीमित	Infinite.
अस्तित्व	Existence or being.
अस्तित्व दर्शन	Existentialism.
अस्तित्वों का अस्तित्व-	Being of beings.
अज्ञेयवादी	Agnostic.
आंगिक	Organic
आकारी सम्बन्ध	Formal relation.
आत्म चेतना	Self consciousness.
आत्म निष्ठ	Subjective.
आत्म पर्याप्तता	Self sufficiency.
आत्म स्वतन्त्रता	Autonomy.
आत्म विरोधी	Self-contradictory.
आदिकारण	First Cause.
आधार	Ground.

ग्राधिकारिक	Authoritative.
ग्रान्तरिक नीति ग्रनुभव	Practical reason.
ग्रापादान	Implication.
ग्रापेक्षिकतावाद	Theory of Relativity.
ग्रायत्तता युक्त सम्बन्ध	Contingent Relation.
ग्रायोजन युक्ति	Argument from design.
इन्द्रीयतीत जगत	Transcendental world
ईश्वर मीमांसा	Theology.
उत्परिवर्तन	Mutation.
उत्पादन	Product.
उपमा	Pattern.
उपादान कारण	Material Cause.
ऊर्जा	Force.
ऊर्जासंरक्षण नियम	Law of conservation of energy.
एक्यपूर्ण	Harmonious.
कर्तव्यबोध	Moral obligation.
काल समय	Time.
कार्य	Effect.
कार्य कारण	Cause and effect.
कुसादृश्य	Bad anology.
क्रिया	Activity.
खिचाव या झुकाव का नियम	Law of gravitation.
घटनाएँ	Events.
घनीभूल	Condense.
चक्रदोष; चक्रप्रकथन दोष	Fallacy of circular reasoning.
चालक	Regulator or Director.
चाहिए की चेतना	Moral obligation.
चिन्तामय	Dreadful.
चेतना रहित ग्रस्तित्व	Inanimate existence.
जगत कारण युक्ति	Cosmological argument.
जड़	Matter.
तथ्य	Facts.
तर्क	Logic.
तत्व मीमासा; तात्विक दर्शन	Metaphysics.
तात्त्विक ग्रस्तित्त्व	Metaphysical reality.
तार्किक ग्राधार	Logical ground.
तार्किक प्रत्यक्षवाद	Logical positivism.
द्रव्य	Substance
द्रव्य संरक्षण नियम	Law of conservation of matter.

धर्म तथा रहस्य अनुभव द्वारा ईश्वर की सिद्धी	Argument from religious or mystic experience.
निगमन	Deduction.
निमित्त कारण	Efficient cause.
नियम बद्ध	Law-bound.
निर्गुण चेतना	Impersonal consciousness.
निरपेक्ष कर्त्तव्य; निरूपाधिक कर्त्तव्य	Uncoditional Duty.
निरीश्वरवाद	Atheism.
निष्ठा विश्वास	Faith.
नीति आबन्ध	Moral obligation.
नीति चेतना	Practical reason.
नीति नियम	Moral principle.
नीति निर्णय बुद्धि	Practical reason.
नीति परक युक्ति	Moral argument.
नीति बुद्धि	Practical reason.
नीति व्यवस्था	Moral order.
परम मूल्य	Ultimate value.
परमार्थ भावना, प्रार्थवाद	Altruism.
परिभाषा	Definition.
पुनरूक्ति	Tautology.
पुरुष ईश्वर	Personal God.
पूर्ण परिकल्पना	Pure Speculation.
पूर्वाग्रह	Prejudice.
प्रकृत्ति या नेचर	Nature.
प्रत्यक्ष इन्द्रिय अनुभव	Perceptual experience.
प्रत्यक्ष परक चेतना	Perceptual consciousness.
प्रत्यय सत्ता युक्ति	Ontological argument.
प्रयोजन	Teleology.
प्रेक्षण और प्रयोग	Observation and experiment.
प्रकल्पना	Hypothesis.
प्राकृतिक बुराईयां	Natural evils.
प्राकृतिक विश्व	Natural world.
भाव पूर्वक	Positive.
भाषा विश्लेषण दर्शन	Philosoiphy of linguistic analysis.
भाष्यकार	Commentator
भूल और प्रयास विधि	Trial & Error method.
भेद	Distinction.
मनमानी	Selfwill.
मानवत्वारोपी	Anthropomorphic.
मानवी अवधारणा	Authropological concept.

मूल्यों के नियम	Value Principles.
यान्त्रिक नियम	Mechanical principle.
याद्दच्छिक प्रति दर्शी	Random sampling.
रचियता	Creator.
वर्णन सिद्धान्त	Explanation theory.
वस्तु निष्ठ	Objective.
विचार विरोधता; विप्रतिषेध	Contradiction.
विरोधात्मक	Selfcontradictory.
विश्व या जगत	Universe.
विश्व तत्त्व	Metaphysical reality.
विश्व रचना	Cosmology.
विश्व निष्ठता	Objectivity.
वैज्ञानिक विधियाँ	Scientific methods.
शक्ति या ऊर्जा	Force.
शिल्प वस्तुएँ	Articrafts.
शून्य	Nothing.
संकेत	Reference.
संसार रचना मीमांसा	Cosmology.
सगुण ईश्वर	Personal God.
सत्यापनीय	Veriable.
सब अस्तित्वों का आधार	Being of beings.
सम	Consisteney.
सर्वज्ञ	Omniscient.
सर्व चेतना वाद	Pan-psychologism.
सर्व मान्यता	Generalisation.
सर्वेश्वरवाद	Pantheism.
साकार रुप	Concrete.
साकल्य	Whole.
साक्षात अनुभव; साक्षात प्रत्यक्ष	Direct experience.
साक्षी	Evidence.
सादृश्य	Anology.
सापेक्ष	Hypothetical.
सामन्जस्य	Adjustment, Harmony.
सूर्य परिवार	Solar system.
स्व में पूर्णता	Self sufficiency.
स्वतः मूल्य	Intrinsic Value.
स्वयं प्रयाप्त	Self-sufficient.
स्वार्थ पूर्ण	Selfish.
स्रष्टा	Creator.
सृजन	Creation.

अनुक्रमणिका